बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक

परशुराम चतुर्वेदी

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

बौद्ध साहित्य के निष्णात पंडित

निर्वाण-प्राप्त नरेंद्रदेव जी को

जिनका संपर्क

छात्रावास-जीवन से ही सुलभ रहा

अनुक्रम

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक मेरे समय-समय पर लिखे कतिपय निबंधों का एक संग्रह मात्र है और इनमें से कुछ, इसके पहले, कहीं न कहीं प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनका यहाँ पर एक साथ संगृहीत किया जाना इस बात का सूचक हो सकता है कि ये न केवल किसी एक ही व्यक्ति द्वारा किये गये बौद्ध साहित्य के कुछ अंशों के अध्ययन के परिणाम स्वरूप हैं, अपितु, प्रायः इन सभी के भीतर देखने से, लगभग एक ही सा कोई अंतःस्रोत भी प्रवाहित होता जान पड़ सकता है। यह अध्ययन अधिकतर ऐतिहासिक दृष्टि से किया गया है और, ऐसा करते समय, सबसे अधिक महत्व सांस्कृतिक विषयों को ही देने की चेष्टा की गई है। फिर भी प्रत्येक निबंध दूसरे से पृथक और स्वतंत्र है, जिस कारण एक ओर जहाँ, साधारणतः कोई एक दूसरे का पूरक नहीं कहला सकता वहाँ, दूसरी ओर इनमें द्विरुक्ति भी आ गई हो सकती है।

'संस्कृति' शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से बना है और इसके द्वारा 'विशुद्ध, परिष्कृत वा परिमार्जित करने का भाव' सूचित होता है। यद्यपि इस अर्थ में यह प्रयोग बहुत पुराना नहीं है। इसी उपसर्ग एवं इसी धातु के आधार पर 'संस्कृत' शब्द भी बना है जिसका अर्थ 'शुद्ध वा परिष्कृत किया गया' है तथा एक अन्य शब्द 'संस्कार' भी है जिसके अर्थ 'धार्मिक कृत्य' एवं 'प्रभाव' होते हैं। परंतु 'संस्कृति' शब्द आजकल अपना एक पारिभाषिक रूप भी ग्रहण कर चुका है और तदनुसार, इसके अभिप्राय में अधिक व्यापकता एवं विशेषता भी आ गई है। आजकल यह अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' का समानार्थक समझा जाता है जिसका मौलिक अर्थ जहाँ, 'कृषि के उद्देश्य से भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिष्कृत करना'

है वहाँ, उसी भावना के अनुसार, 'मानवीय सहज वृत्तियों वा अंतर्निहित शक्तियों को परिमार्जित करना' भी हुआ करता है। अतएव, 'संस्कृति' शब्द, किसी व्यक्ति के पक्ष में, बहुधा उसकी शिष्टता, सौजन्य अथवा मानवता का बोधक होता है और इन गुणों द्वारा उसकी किसी ऐसी स्थायी मनोवृत्ति वा ऐसे शील का पता चलता है जिसके कारण वह समाज में स्वभावतः उच्चकोटि का गिना जाता है। इसी प्रकार यही शब्द, किसी समाज विशेष के पक्ष में, उसके उन विशिष्ट गुणों का भी द्योतक माना जाता है जो, न केवल उसके उदात्त उद्देश्य, उसकी ज्ञान-गरिमा, उसके कला-चातुर्य, उसकी भाव-प्रवणता तथा उसके विचार-स्वातंत्र्य को प्रकट करते हैं, प्रत्युत, जिनके आधार पर, उसके सदस्यों में भ्रातृ-भाव, सहानुभूति एवं सहयोगिता की जैसी हार्दिक वृत्तियाँ भी लक्षित हुआ करती हैं। 'सभ्यता' शब्द बहुधा केवल उन वाह्यगत क्रिया-कलापों अथवा उन विविध वस्तुओं की ओर ही इंगित करता है जिन्हें हम संस्कृति के परिणाम स्वरूप मान सकते हैं। अतएव, हम इतना और भी कह सकते हैं कि 'संस्कृति' शब्द समाज-सापेक्ष होने के नाते जहाँ, किसी समाज-विशेष की मानसिक वा बौद्धिक उन्नति का कोई न कोई स्तर बतलाता है, वहाँ 'सभ्यता' शब्द उसके भौतिक विकास की ऐसी किसी इयत्ता की ओर निर्देश करता है जिसके आधार पर हम उसकी तुलना, प्रायः, अन्य समाजों के साथ किया करते हैं। 'संस्कृति' एवं 'सभ्यता' शब्दों को कभी-कभी समानार्थक मानकर उनके प्रयोग किये जाते हैं तो कभी-कभी उनके द्वारा सूचित विषयों में कार्य-कारण सम्बंध भी स्थापित कर दिया जाता है और इस प्रकार की धारणा दृढ़ मूल सी बन गई है कि इन दोनों में से किसी एक को हम दूसरे से कभी पृथक् नहीं कर सकते। इस कारण, प्रस्तुत पुस्तक के शीर्षक में प्रयुक्त 'सांस्कृतिक' शब्द के अर्थ की व्यापकता पर विचार करते समय, इस बात को ध्यान में रख लेना आवश्यक हो सकता है।

इसी प्रकार बौद्ध साहित्य भी अत्यंत विस्तृत एवं महान् है और इसके अंतर्गत विभिन्न भाषाओं तथा देशों के एक से एक विशाल ग्रन्थों की गणना की जा सकती है, इसके सिवाय इस अपूर्व वाङ्मय में ऐसे अनेक विषयों का भी समावेश है जिनके कारण, वहाँ आश्चर्य-जनक वैविध्य का भी एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है। साहित्य के इतिहासकारों ने इसके विविध अंगों का वर्गीकरण केवल स्थूल रूप से ही किया है और कभी-कभी तो उनके भीतर भी केवल एक ही प्रमुख विषय, बुद्ध-वचन तथा बुद्ध-जीवनी से सम्बद्ध विचार-धारा के व्यापक स्रोत का ही सब कहीं प्रवाहित होना देखा है जिस दशा में, किसी वास्तविक विविधता का कोई विचार ही नहीं किया जा सकता। परंतु क्या किसी साहित्य की सच्ची महानता केवल इसी बात में परखी जा सकती है कि उसके वर्ण्य विषयों की संख्या अधिक है? क्या किसी एक ही सर्वांगीण महत्व के विषय का अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से तथा विभिन्न रूपों में नहीं किया जा सकता, न इस प्रकार, उसके अंतर्गत सारे जीवन की विविधता लायी जा सकती है? बौद्ध साहित्य का मूल विषय अवश्य वस्तुतः एक है, किन्तु, उसके पूर्ण अनुशीलन के व्याज से जो उसमें विचित्र बहुरंगीपन आ गया है वह, कदाचित्, अन्यत्र दुर्लभ है। बौद्ध साहित्य में जितना विषय का वस्तुगत विस्तार नहीं, उतना व्याख्यात्मक वैविध्य दृष्टिगोचर होता है जिसका अपना एक पृथक् मूल्य ही आँका जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत निबंधों के अंतर्गत उसके केवल अत्यंत अल्प अंशों का ही कुछ उपयोग किया जा सका है। इसी कारण, इसके शीर्षक में आये हुए 'बौद्ध साहित्य' द्वारा उस वाङ्मय के किसी सर्वांगपूर्ण अध्ययन का कोई प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता।

इसमें संगृहीत निबंधों में से प्रथम तीन का सम्बंध भगवान् बुद्ध के युग तथा उनके समकालीन सामाजिक वातावरण से है। उनका आधार केवल बौद्ध साहित्य ही नहीं, प्रत्युत अनेक ऐसी अन्य सामग्रियाँ भी

हैं जिनसे उसका समर्थन होता है तथा जिनके द्वारा वर्ण्य विषय का और भी अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है। इसके विपरीत उनके आगे वाले चार निबंध केवल बौद्ध साहित्य पर ही आश्रित हैं और इसमें संदेह नहीं कि पुस्तक के शीर्षक की दृष्टि से केवल ये ही चार उसके सर्वथा उपयुक्त हैं। इसी प्रकार बौद्ध सिद्धों का परिचय देने वाले आठवें निबंध से यह पता चलता है कि भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकाल का आरंभ होने के समय तक बौद्ध धर्म और उसकी परंपरा ने यहाँ पर कौन सा रूप ग्रहण कर लिया था तथा उसके सांस्कृतिक परिणाम की संभावनाएँ क्या हो सकती थीं। पुस्तक में संगृहीत अंतिम दो निबंधों द्वारा हमें उस बौद्ध संस्कृति के रूप का कुछ आभास मिल जाता है जो किसी न किसी प्रकार किये गए प्रचारों द्वारा विभिन्न दूर देशों तक जा पहुँची और जो वहाँ के धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभावों के संघर्ष में आते रहने पर भी, अपने मूल रूप का परित्याग बहुत कम कर सकी। इन दोनों निबंधों में ऐतिहासिक विवरण को अधिक स्थान मिला है, तदनुसार वहाँ सांस्कृतिक तत्वों का केवल एक सांकेतिक परिचय ही उपलब्ध है। किन्तु नवें निबंध के अंतर्गत, जिस 'ज़ेन' संप्रदाय का वर्णन आया है उसका, कई अन्य दृष्टियों से भी, एक विशेष महत्व हो सकता है।

बौद्ध साहित्य के अंतर्गत किसी एक विशिष्ट धर्मादर्श एवं धर्मोपदेश की अभिव्यक्ति दीख पड़ती है और उसका रूप, स्वभावतः, श्रामणिक है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय सांस्कृतिक विकास के इतिहास में श्रमण-संस्कृति किसी सर्वथा नवीन संदेश के साथ आती है। इसकी परंपरा का मूल स्रोत किसी ऐसी प्राचीन स्थिति की ओर संकेत करता है जो, कदाचित् वैदिक युग के भी पहले की हो सकती है और जिसका क्रमिक विकास, भगवान् बुद्ध के समय तक, बराबर होता आया है। सिंधु-सभ्यता-सम्बंधी अवशिष्ट

चिह्नों द्वारा इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है और वैदिक साहित्य से भी पता चलता है कि किस प्रकार तपश्चर्या की साधनाओं द्वारा मृत्यु पर विजय पा लेने की चेष्टा की जाती थी[1] तथा, ब्रह्म-लोक की कामना करते हुए, लोग अपना घर बार छोड़ प्रव्रज्या ग्रहण करते एवं भिक्षाचरण में प्रवृत्त हो जाया करते थे।[2] भगवान् बुद्ध के युग में इन बातों का बहुत अधिक प्रचार था और तदनुकूल आचरण करने वाले विविध संप्रदायों तक की सृष्टि हो गई थी। उस समय इसका अस्तित्व, केवल अपवाद रूप में न रहकर किसी वैसे व्यापक नियम का पोषण करने लग गया था और तत्कालीन समाज के लिए यह उसकी एक विशेषता तक भी बन गया था। श्रामणिक व्यवस्था का आकर्षण उन दिनों इतना प्रबल था कि एक दूसरे के दुष्ट व्यवहार से ऊब गये हुए, पति वा पत्नी एक साधारण से संकेत पर भी गृह-त्याग कर बैठते थे और वनों में जाकर तपश्चर्या अथवा भिक्षु-संघों में प्रवेश कर धर्माचरण की ओर प्रवृत्त हो जाया करते थे। फिर तो "राजा का दास भी यदि वह भिक्षु बन कर काषाय चीवर पहन ले और थोड़े से भोजन, आवास और एकांत जीवन से संतुष्ट रहे तो राजा उसके लिए भी संमानित स्वागत्, चीवर, पात्र, आवरण, भेषज एवं रक्षा की व्यवस्था करेगा।"[3] फलतः हम देखते हैं कि जिस भिक्षु-संघ को हम हिंदू समाज के चौथे आश्रम संन्यास का उच्च स्थान, स्वभावतः दे सकते हैं उसका रूप कभी-कभी किसी एक सामान्य जन-वर्ग से अधिक भिन्न प्रतीत नहीं होता था और उसके सदस्यों में प्रायः मानसिक एवं नैतिक दुर्बलताओं के साधारण

---

१. अथर्ववेद (४-३-३५)।

२. वृहदारण्यकोपनिषद् (४-४-२२)।

३. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी : 'डायलग्स' (१-७७) हिन्दू सभ्यता, पृ० २२० पर उद्धृत।

उदाहरण तक मिल जाया करते थे। 'उदान' के कतिपय प्रसंगों एवं थेर तथा थेरी गाथाओं की एकाध कथाओं से भी हमें इस बात की पुष्टि होती जान पड़ती है।

भगवान् बुद्ध का जीवनादर्श अत्यंत भव्य और उदात्त है तथा उनके अनुपम व्यक्तित्व का सुंदर प्रभाव भी जन-साधारण पर बिना पड़े नहीं रह सकता और यह बात बौद्ध धर्म के कथा-साहित्य का अध्ययन करने वाले प्रत्येक पाठक के सामने उसके पृष्ठ-पृष्ठ पर प्रमाणित होती जान पड़ती है। अतएव, कुछ लोगों की समझ में यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठ सकता है कि वे सारी बातें लोक-जीवन के स्तर तक कभी क्यों न पहुँच पाईं, क्यों नहीं उनके आधार पर कभी किन्हीं लोक-गीतों का निर्माण हुआ, क्यों न कभी उनके विविध मनोरम दृश्यों को किन्हीं लोक-नाट्यों में स्थान दिया गया तथा क्यों न उनके प्रसंगों की प्रेरणा में कभी किन्हीं लघु-कथाओं वा कहावतों की ही सृष्टि की गई? इसका एक सीधा-सादा उत्तर तो इस प्रकार दिया जा सकता है कि यह कथा-साहित्य स्वयं लोक-जीवन के स्तर से कुछ भी दूर नहीं है। इसकी मूल-भाषा पाली कभी लोक-भाषा के पद पर आसीन रही है, इसमें लोक-गीतों का स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है, यह पहले मौखिक साहित्य के रूप में ही प्रचलित था तथा इसके रचयिताओं का कहीं पता भी नहीं चलता। इसे, इसके वर्तमान संगृहीत, अनुवादित एवं प्रकाशित रूप में, देखकर हमें सहसा इसका मूल रूप विस्मृत हो जाया करता है। इसके सिवाय जिन लोक-गीतों आदि से हम आजकल परिचित हैं वे प्रायः प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध हैं जिनका उदयकाल साधारणतः, हमारे इतिहास के पूर्वमध्यकाल से, कभी पहले नहीं पड़ता और संयोगवश यही वह युग भी ठहराया जा सकता है, जब बौद्ध धर्म का यहाँ प्रत्यक्ष ह्रास दीख पड़ने लगा था और जब उक्त सारी बातों के क्रमशः लुप्त होते जाने की ही अधिक संभावना थी। जिन

तमिल प्रांत जैसे एकाध प्रदेशों की भाषा अधिक प्राचीन है तथा बंगाल एवं उत्कल जैसे कुछ प्रांतों में बौद्ध धर्म का प्रभाव किंचित् पीछे तक भी बना रहा वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं के पुराने साहित्य में हमें बौद्ध धर्म एवं साहित्य-सम्बंधी सामान्य बातों का कभी सर्वथा अभाव नहीं दीख पड़ता।

पुस्तक में संगृहीत निबंधों के लिखने में जिन विद्वानों की रचनाओं से सहायता ली गई है उनका मैं आभार स्वीकार करता हूँ और, इन्हें संगृहीत करते समय जो बहुमूल्य सुझाव मुझे अपने अनुज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी से मिले हैं उनके विषय में भी यहाँ चर्चा कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। पुस्तक में मुद्रित 'प्रवज्या' तथा पबुध को सुधी पाठक सुधार कर 'प्रव्रज्या' और पकुध पढ़ने की कृपा करें।

बलिया
१५ अगस्त, १९५८

परशुराम चतुर्वेदी
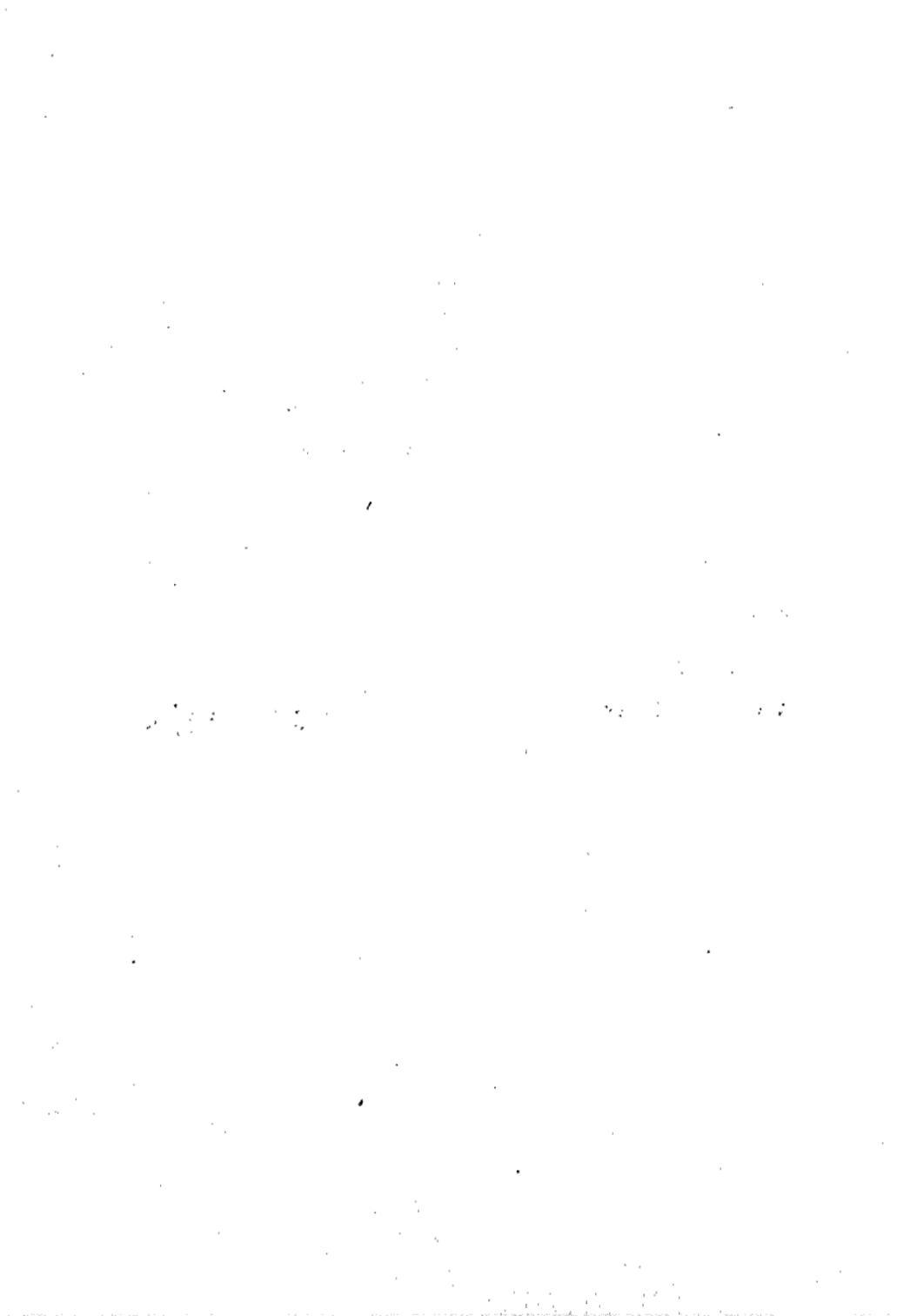
समसामयिक दार्शनिक विचारधारा

गौतम बुद्ध का आविर्भाव-काल, जिसे स्थूल रूप में हम ईसापूर्व छठीं शताब्दी का समय भी कह सकते हैं, विभिन्न विचारधाराओं की उथल-पुथल का युग था और उसमें विशेषकर धार्मिक एवं दार्शनिक मतों के अनेक आंदोलन भी काम कर रहे थे। उससे लगभग एक शताब्दी पूर्व अर्थात् मिलेटस निवासी थेलिस (मृ० सन्० ६२४ ई० पू०) के जीवन-काल से ही सुदूर पश्चिम के यूनान देश में जगत् के मूलाधार का अन्वेषण-कार्य आरंभ हो चुका था और बहुत से चिंतनशील व्यक्ति सृष्टितत्व से लेकर कार्य-कारण सम्बंधी नियम एवं "संघातवाद" आदि जैसे विविध प्रश्नों की छानबीन में प्रवृत्त होते जा रहे थे। उस समय तक ईरान में महात्मा जरथुस्त्र के अनुयायियों ने परमतत्व के इष्टानिष्ट परक द्वंद्वात्मक रूप का समाधान आरंभ कर दिया था। संभवतः चीन देश में भी लाओत्से (सन् ६०४-५१४ ई० पू०) तथा उसके सहयोगी किसी "ताओ" के प्रतिपादन एवं प्रचार में लगे हुए थे। गौतम बुद्ध के समकालीन समझे जाने वाले यूनान के ही पाइथा-गोरस (सन् ५८२-५०६ ई० पू०) ने आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार किया, परमेनाइडीज (सन् ५१५ ई० पू० ने) अपने आदर्शवाद की नीवँ डाली तथा सोफी प्रोटागोरस (सन् ५००-४३० ई० पू०) आदि ने अपनी तर्क-प्रणाली का प्रचार किया जिसका एक विशिष्ट परिणाम प्रसिद्ध महापुरुष सुकरात (सन् ४७-३९९ ई० पू०) की विचारधाराओं में दीख पड़ा और चीन के कनफ्यूसियस (सन् ५५१-४७९ ई० पू०) ने भी नैतिक-जीवन सम्बंधी विचार-पद्धति को दिया जो, उसके अनुयायी मेनसियस (सन् ३७१-२८९ ई० पू०) द्वारा पुष्टि पाकर, पीछे और भी सुव्यवस्थित रूप में प्रचलित हुई। उस काल के विचारशील

व्यक्ति न केवल अपने निजी अनुभवों के ही बल पर नवीन उद्-भावनाओं को जन्म देते थे, प्रत्युत वे परंपरागत बातों की समीक्षा करने से भी नहीं चूकते थे। इस प्रकार विभिन्न विचारधाराओं के आलोड़न-विलोड़न द्वारा जहाँ एक ओर बहुत से नवीन दार्शनिक मतवाद अपना स्वरूप ग्रहण करते जा रहे थे वहाँ दूसरी ओर प्राचीन स्थापनाओं का विकास वा परिष्कार भी होता जा रहा था।

स्वयं भारतवर्ष की विचार-परंपरा के इतिहास का अध्ययन करने पर भी पता चलता है कि यहाँ पर उक्त प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्राचीन वैदिक युग से ही काम करती आ रहीं थी और आध्यात्मिक विषयों से सम्बंध रखने वाले विविध प्रश्नोत्तरों के आधार पर, कई उपनिषदों की रचना भी हो चुकी थी। गौतम बुद्ध के आविर्भाव-काल तक निर्मित हो चुके विशाल भारतीय साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश हमें ऐसे प्रश्नों के समाधानों से ही भरा मिलता हैं जो जिज्ञासुओं द्वारा दृश्यमान जगत् की सृष्टि, उसके आधारभूत परमतत्व, मानव जीवन के रहस्य आदि जैसी जटिल समस्याओं के विषय में उठाये गये हैं और जिन्हें उद्देश्य करके विचारकों ने बहुधा स्वानुभूतिपरक उत्तर दिये हैं। "मन किसके द्वारा प्रेषित होता है? किससे युक्त होकर प्राण गमन करता है? किसकी प्रेरणा से वाणी का स्फुरण होता है? अथवा हमारे नेत्र एवं श्रोत्र अपने-अपने कार्य में लगा करते हैं[१]?" तथा "हम जिसकी उपासना करते हैं वह यह आत्मा कौन है जिसकी प्रेरणा से प्राणी देखता है, सुनता है सूंघता है। वाणी का विश्लेषण करता अथवा स्वादु-अस्वादु का ज्ञान प्राप्त करता हैं[२]?" और, इसी प्रकार, "जगत् का कारणभूत ब्रह्म कैसा है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा जीवित रहते हैं? कहा पर स्थित हैं? और किसके द्वारा सुख-दुख में प्रेरित होकर हम संसार-यात्रा

१—केनोपनिषद् (१-१) २—ऐतरेयोपनिषद् (३-५-१)

का अनुवर्तन करते हैं ?[1] आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो विभिन्न रूपों में अनेक स्थलों पर दिये गए पाये जाते हैं और तदनुसार वहाँ पर "काल स्वभाव नियति, यदृच्छा, भूत एवं पुरुष जैसे कारणों के आधार पर किया गया सुंदर विवेचन भी मिला करता है[2] ।" इसके अतिरिक्त उक्त साहित्य के अंतर्गत, ऐसे वाक्य भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं जिनमें परंपरागत बातों के प्रति अनास्था प्रकट की गई है। उदाहरण के लिए, यदि कहीं परमार्थ-प्राप्ति के साधन की दृष्टि से यज्ञ विधानों की असमर्थता प्रदर्शित की गई है[3] तो अन्यत्र उसके लिए केवल तर्क-वितर्क, बुद्धि अथवा वेदादि के अध्ययन द्वारा उपलब्ध पांडित्य को भी अपर्याप्त ठहराया गया है[4] । अतएव, इस प्रकार का अनुमान कर लेना कदाचित् अनुचित न कहा जाय कि वैसे प्रश्नों को उठाना, उन पर स्वतंत्र विचार प्रकट करना और विभिन्न मतवादों की सृष्टि करना, उन दिनों के लिए एक सामान्य सी बात रही होगी और प्रायः सभी सभ्य देशों में यह प्रवृत्ति लगभग एक ही ढंग से काम करती होगी ।

भारतवर्ष में उन दिनों तक, बहुत पहले से ही दो विभिन्न संस्कृतियों के उदाहरण प्रायः समानांतर में लक्षित होते आये थे। उनमें से एक श्रमण-संस्कृति कही जाती है और दूसरी को ब्राह्मण-संस्कृति के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्राह्मण-संस्कृति के लोग अधिकतर गृहवासी रहा करते थे, गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें सामाजिक व्यवस्था पसंद थी और इस दृष्टि से वे बहुत कुछ सांसारिक भी थे, जहाँ श्रमण वर्ग वालों के लिए अपने पारिवारिक जीवन का परित्याग करके भ्रमणशील बना रहना और प्रत्येक प्रकार की सांसारिकता के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करना एक साधा-

---

१—श्वेताश्वतरोपनिषद् (१-१) २—वही, (१-२)
३—मुण्डकोपनिषद् (१-२-७) ४—वही, (३-२-३)

रण सी बात थी। ब्राह्मण-संस्कृति वाले प्राचीन वैदिक परंपरा के अनुगामी थे, यज्ञयागादि को महत्व देते हुए मंत्र, होम, जप एवं विविध अनुष्ठानों में लगे रहते थे। उन्हें जगत् के सृष्टिकर्त्ता और संचालक में भी किसी न किसी प्रकार की आस्था बनी रहती थी, जहाँ श्रमण-संस्कृति के लोग वेदों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते थे, उन्हें कर्मकाण्ड की बातें नितांत निरर्थक और अनावश्यक प्रतीत होती थीं। यतिधर्म एवं तपश्चर्या में निरत रहना वे अधिक श्रेयस्कर समझते थे और उनके यहाँ किसी ईश्वर का प्रश्न भी उठाना उतने महत्व का नहीं था। दोनों ही संस्कृतियाँ प्राचीन हो चली थीं जिस कारण उनके द्वारा प्रभावित व्यक्तियों में बाह्याचार, बाह्याडंबर अथवा शुष्क वितंडावाद की प्रवृत्तियों का क्रमशः प्रवेश कर जाना कुछ अस्वाभाविक नहीं था। इसीलिए उनके पारस्परिक मतभेद की मात्रा अधिक बढ़ चुकी थी तथा उनमें एक विलक्षण वादप्रियता भी आ गई थी जिसका परिणाम विभिन्न संप्रदायों के प्रचार में दीख पड़ता था। परस्पर-विरोधी मत वाले एक दूसरे की विचारधारा को निम्न एवं हेय समझा करते थे और उसके अनुयायियों को प्रायः "नास्तिक" भी ठहराते थे जिससे इस शब्द का अभिप्राय सर्वत्र एक सा ही स्वीकार नहीं किया जाता था, न इसी प्रकार सब कहीं "आस्तिक" शब्द का ही अर्थ एक था। फिर भी अधिकांश मतवाले बहुधा उसी को नास्तिक मानते थे जो परलोक एवं कर्मवाद में विश्वास नहीं करता था।

यहाँ पर यह बात भी उल्लेखनीय है कि उक्त प्रकार की बातों का विशेष प्रचार भी मगध देश की ओर ही था जिसके निकटवर्ती क्षेत्र में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ और जिसे उन्होंने तथा उनके सम-सामयिक एक दूसरे महापुरुष महावीर ने भी अपने मतों का प्रचार केन्द्र बनाया। वह प्रदेश जनक, याज्ञवल्क्य, आदि के समय अर्थात् उपनिषद् काल से ही, आध्यात्मिक एवं रहस्यमयी बातों पर विचार-

विनिमय करने तथा परंपरागत वैदिक यज्ञयागादि की अपेक्षा ज्ञान-काण्ड को अधिक महत्व देने वालों की कर्मभूमि रह चुका था। इस-लिए, हमें आश्चर्य नहीं कि गौतम बुद्ध के आविर्भाव-काल तक वहाँ विचार-स्वातंत्र्य को पूर्ण प्रश्रय दिया जाने लगा हो। इसके परिणाम स्वरूप, उस ओर ऐसे अनेक विचित्र मतवाद भी प्रचलित हो गए हों जिन्हें उन्होंने मिथ्या दृष्टि का नाम दिया है। "ब्रह्मजाल सुत्त" के अंतर्गत जो "दीघनिकाय" के "सीलक्खन्ध वग्ग" में संगृहीत है ऐसी ६२ मिथ्या दृष्टियों के नाम आ गये दीख पड़ते हैं। "ब्रह्मजाल" शब्द का अभिप्राय ही कदाचित् उस 'श्रेष्ठजाल' से है जो बुद्ध के महान उपदेशों द्वारा बुना गया है और जिसका प्रमुख उद्देश्य बहुधा "फिसल कर निकल जाने वाली मछलियों रूपी मिथ्या दृष्टियों को पकड़ना" है। "ब्रह्मजाल सुत्त" में यद्यपि उक्त वादों का पूरा विवरण नहीं दिया गया है केवल उनकी ओर इस प्रकार संकेत कर दिया गया है जिससे उनमें निहित प्रमुख प्रवृत्तियों का कुछ न कुछ पता चल जाता है।

"ब्रह्मजाल सुत्त" में कहा गया है कि उपर्युक्त ६२ मिथ्या दृष्टियों में से १८ का सम्बंध जीवन एवं जगत् के आदि वा आरम्भ से था जहाँ शेष ४४ उन्हीं विषयों के अंत वा अंतिम परिणाम की चर्चा किया करती थीं। संक्षेप में बतलाया जा सकता है कि जीवन एवं जगत् के आदि से सम्बंध रखने वाली १८ मिथ्या धारणाओं को भी कम से कम पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं और उन्हें क्रमशः (१) शाश्वतवाद (२) नित्यता-अनित्यता वाद (३) सांत-अनंत वाद (४) अमराविक्षेप वाद और (५) अकारण वाद के नाम दे सकते हैं। इन्हें १८ इसलिए ठहराते थे कि इनमें से प्रथम चार में से प्रत्येक की सिद्धि के लिए चार-चार हेतु दिये गए थे, जहाँ अंतिम अथवा अका-रण वाद के लिए केवल दो ही हेतु आवश्यक थे। इसी प्रकार उक्त ४४ मिथ्या धारणाओं से तात्पर्य यह था कि उनमें से कुछ ब्राह्मण-

श्रमण तो १६ प्रकार के हेतुओं के आधार पर, यह स्वीकार करते थे कि मृत्यु के अनंतर भी आत्मा संज्ञी (अर्थात् अपने अस्तित्व का भान रखने वाला) रहता है।' जहाँ कुछ लोग ८ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि वह सर्वथा "असंज्ञो" वा बेहोश बन जाता है। फिर कुछ लोग ८ विभिन्न हेतुओं के आधार पर यह भी स्वीकार करते थे कि मृत्यु के अनंतर वह न केवल संज्ञी रहा करता है, अपितु असंज्ञी भी बन जाता है अर्थात् दोनों प्रकार के प्रमाण होने से उन्हें दोनों ही दशाएँ एक साथ स्वीकृत थीं। इसके विरुद्ध कुछ लोग "उच्छेदवादी" हुआ करते थे जो ७ हेतुओं के आधार पर आत्मा के पूर्ण उच्छेद वा अभाव के समर्थक थे। परंतु कतिपय अन्य विचारकों की यह भी धारणा थी कि ५ हेतुओं के आधार पर आत्मा का इसी जन्म में निर्वाण वा मोक्ष पा जाना असंभव नहीं। "ब्रह्मजाल सुत्त" के अंतर्गत हमें उपर्युक्त ६२ प्रकार के मतों में से किसी का ऐसा विवरण नहीं मिलता जिसके आधार पर हम, उसके वास्तविक रूप में विद्यमान रहने के विषय में कोई निश्चित अनुमान कर सकें अथवा ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत कर सकें। अतएव, डा० टामस की धारणा है, "इसमें कुछ भी संदेह नहीं किया जा सकता कि उनमें से बहुत से मत ऐसे भी थे जो वस्तुत: कभी भी किसी को मान्य नहीं थे, प्रत्युत वे केवल ऐसी संभाव्यताएँ मात्र ही थीं जिन्हें उक्त जाल को पूरा करने के उद्देश्य से, औरों के साथ जोड़ दिया गया था।[1]

फिर भी, उक्त प्रकार से की गई विभिन्न मतों की चर्चा हमें जैन ग्रन्थों में भी दीख पड़ती है और "सूत्र कृतांग" में उनकी संख्या ३६३ तक आ गई है। वहाँ पर स्व-सिद्धांत, पर-सिद्धांत, स्व एवं पर

---

1. Dr. Edward J. Thomas : The History of Buddhist Thought (Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1951) p. 77

सिद्धांत, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक आदि का वर्णन करते समय क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४ अज्ञानवादियों के ६७ और विनयवादियों ३२ मतों का उल्लेख पाया जाता है। इन्हें वहाँ अन्य दृष्टि अर्थात् महावीर के सिद्धान्तों का विरोधी माना गया है और इनका निराकरण करके स्वमत की स्थापना की गई है।[1] इनमें से कई ऐसे हैं जो वस्तुतः प्रचलित जैन सिद्धांत से अधिक भिन्न नहीं प्रतीत होते और कुछ के पारस्परिक भेद का स्पष्टीकरण सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त "ब्रह्मजाल सुत्त" में बतलायी गई मिथ्या दृष्टियों के साथ तुलना करने पर, पता चलता है कि उसके बहुत से मत यहाँ पर अन्य नामों के साथ आ गए हैं तथा कई के यहाँ पर कतिपय भेद-प्रभेद भी गिना दिये गए हैं। उन सभी का यथेष्ट परिचय यहाँ पर भी हमें उपलब्ध नहीं होता, न इनके आधार पर भी, हमें उस काल की दार्शनिक वा धार्मिक स्थिति का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने में पूरी सहायता ही मिल पाती है।

"सूत्रकृतांग" में उल्लिखित ३६३ 'अन्य दृष्टियों' में से कुछ का संक्षिप्त आभास हमें इन संकेतों द्वारा मिल सकता है; जैसे, "कुछ लोगों के मतानुसार आत्मा केवल पंच भौतिक पदार्थों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश का ही एक विकसित रूप है और वह इनके विघटन के साथ ही नष्ट हो जाया करता है। कुछ का कहना था कि बुद्धि तत्व विश्व के अंतर्गत, विभिन्न रूपों में व्यक्त हुआ करता है। कुछ लोग मानते थे कि आत्मा एक छठा तत्व है और उनकी धारणा थी कि जगत् एवं आत्मा दोनों ही नित्य है तथा वे नियतिवाद के नियमों को भी स्वीकार करते थे। दूसरे लोगों का वर्ग पंच स्कंधों में विश्वास करता था और इन्हें न तो परस्पर एक दूसरे

---

१. मोहन लाल दली चंद देसाई : जैन सहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (श्री जैन श्वेतांबर कान्फरेंस आफिस, मुंबई, १९३३), पृ० २३

से भिन्न, न अभिन्न, न एक दूसरे द्वारा निर्मित न अनिर्मित ही मानता था। कुछ लोग क्लेश को न तो किसी के लिए आत्म-जन्य मानते थे, न उसे पर-जन्य ही ठहराते थे, प्रत्युत उसे निरे संयोग द्वारा उत्पन्न हुआ स्वीकार कर लेते थे। दूसरे लोग संदेह के बाहर की बातों में तो संदेह किया करते थे, किंतु वस्तुतः संदिग्ध बातों में कोई संदेह नहीं करते थे। फिर अन्य लोग 'अज्ञेयवादी'' कहे जा सकते थे जो किसी भी बात को निश्चयपूर्वक नहीं स्वीकार करते थे। इसी प्रकार कुछ लोग सृष्टि का कर्त्ता देवताओं को मानते थे, कुछ उसे ब्रह्म निर्मित माना करते थे। कुछ ईश्वर कृत समझते थे तथा दूसरों का ऐसा विश्वास था कि यह 'प्रधान' का परिणाम है।[1] इन्हीं के अनुसार, हम आत्मा, सृष्टि एवं नैतिक नियमों वाले बहुत से अन्य मतों की भी कल्पना कर सकते हैं, यद्यपि केवल इतने ही आधार पर, हम उनका कोई सर्वांगीण परिचय भी उपलब्ध नहीं कर सकते। वास्तव में, "ब्रह्मजाल सुत्त" अथवा "सूत्तकृतांग" के अंतर्गत जिन मिथ्या दृष्टियों अथवा अन्य दृष्टियों की चर्चा एवं परीक्षा की गई दीख पड़ती है, वे क्रमशः प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन की आलोचनात्मक दृष्टियों से देखे गये अपने विपक्ष के मतवाद थे, जिनका, उन दिनों, कहीं न कहीं न्यूनाधिक प्रचार था और जिनके ऊपर पहले ध्यान दे लेने की प्रवृत्ति स्वभावतः जग सकती थी।

"दीघ निकाय" के "सीलक्खन्ध वग्ग" में ही संगृहीत 'सामञ्ञ फल सुत्त' (श्रामण्य फल सूत्र) से पता चलता है कि मगध के राजा अजातशत्रु ने जब अपने पिता का वध कर डाला तो उसे अपने दुष्कर्मों के लिए घोर पश्चाताप हुआ। इसीलिए वह उन दिनों के प्रसिद्ध आचार्यों वा उपदेशकों के निकट इस उद्देश्य से गया कि

---

1. Dr. NathmalTatia : Studies in Jain Philosophy (Jain Cultural Research Society, Banaras, 1951) p. 24.

उसे चित-शांति की उपलब्धि हो और सबके पीछे वह इसके लिए भगवान् बुद्ध के पास पहुँचा। इस कारण उस ग्रन्थ में प्रसंगवश उन छह प्रसिद्ध आचार्यों का उल्लेख आ गया है जिनके नाम (१) पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप] (२) मंक्खलि गोसाल (मस्करी गोशाल) (३) अजित केश कम्बलि (अजित केश कम्बलि) (४) पबुध कच्चायन (प्रबुद्ध कात्यायन), (५) संजय बेलट्ठिपुत्त (संजय बेलष्ठि पुत्र) और (६) निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) थे और जो संभवतः 'तित्थिय' भी कहलाते थे। इन छहों के लिए कहा जाता है कि ये सभी गौतम बुद्ध से अवस्था में बड़े थे। इन्होंने अपने प्रचार-कार्य द्वारा, न्यूनाधिक संख्या में अनेक अनुयायियों को एकत्र कर लिया था। इनका, उन दिनों, बहुत कुछ समकालीन जनता पर भी प्रभाव था। इनमें से छठें अर्थात् निगण्ठ नाटपुत्त तो स्वयं तीर्थंकर महावीर ही थे जो जैन धर्म के प्रसिद्ध प्रवर्त्तकों में २४वें समझे जाते हैं। मंक्खलि गोसाल के लिए कहा जाता है कि वे पहले इन्हीं के अनुयायी बन गए थे। इनके कैवल्य से सोलह वर्ष पहले मरे भी थे और स्वयं इनका (महावीर का) देहांत भी, बुद्ध महानिर्वाण के बहुत कुछ पहले ही तथा पूरी प्रसिद्धि पाकर हुआ था।

बुद्धघोष की "सुमंगल विलासिनी" नामक रचना से पता चलता है कि पूरण कस्सप एक दास-पुत्र थे जो उपयुक्त अवसर पाकर अपने स्वामी के घर से भाग निकले थे और जो मार्ग में चोरों द्वारा अपने कपड़े छीन लिये जाने के कारण, एक गाँव में नग्न रूप में ही पहुँचे थे। फिर भी, लोगों के पूछने पर इन्होंने अपना नाम 'पूरणकस्सप बुद्ध' बड़े गर्व के साथ बतलाया था और इस नाम की व्याख्या भी कर दी थी। इनका अंत में, जल-समाधि लेकर अपना प्राण-विसर्जन करना प्रसिद्ध है। पूरण कस्सप के मत को 'अक्रियावाद' कहा गया है और बतलाया गया है कि राजा अजातशत्रु द्वारा पूछे जाने पर इन्होंने एक ऐसे मत का प्रतिपादन किया था जिसके अनुसार उनका

पाप-पुण्य का फल मानना सिद्ध नहीं है। इनका कथन था "कर्म-करते-कराते, छेदन करते-कराते···प्राण लेते, चोरी करते, सेंध लगाते, गाँव लूटते, बटमारी करते, पर-स्त्री गमन करते, झूठ बोलते, कोई पाप नहीं किया जाता। छूरे जैसे तेज चक्र द्वारा काट कर चाहे इस पृथ्वी के प्राणियों का कोई मांस का खलियान, मांस का पुंज क्यों न बना दे, तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं होगा, पाप का आगम नहीं होगा। दान देने-दिलाने, यज्ञ करने-कराने में कोई पुण्य नहीं है। दान, दम, संयम, सत्य कथन से न पुण्य है, न पुण्य का आगम[१]।" पूरण कस्सप से इस प्रकार उत्तर पाकर राजा अजातशत्रु ने कहा था कि "यह तो वैसा हुआ जैसा, यदि आम का फल माँगा जाय तो उसकी जगह रोटी दे दी जाय।"[२]

मंक्खलि गोसाल की चर्चा जैन ग्रन्थों में भी मिलती है और यहाँ उन्हें कुछ समय तक महावीर का अनुयायी रहना भी बतलाया गया है। "सुमंगल विलासिनी" में उन्हें भी पूरण कस्सप की ही भाँति किसी दास का पुत्र होना कहा गया है। कहते हैं कि उनके पिता-माता कुछ दिनों तक भिखमंगों के वेष में इधर-उधर फिरा करते थे और मगध निवासी किसी ब्राह्मण की गोशाला में, मंक्खलि का जन्म हुआ था। जैन ग्रन्थों के अनुसार ये पहले महावीर के बहुत ही प्रियपात्र रहे थे और उन्होंने इन्हें अनेक संकटों से बचाया भी था। परंतु पीछे इनका उनके साथ किसी सिद्धांत विशेष पर घोर मतभेद हो गया जिस कारण इन्होंने उनका साथ छोड़ दिया। परंतु डा० वेणी माधव बरुआ ने इनका महावीर का शिष्य होना संदिग्ध माना है।[३]

---

१. सामञ्ञ फल सुत्त (दी० नि०)

2. Dr. Thomas : The History of Buddhist Thought p. 72.

३. भरतसिंह उपाध्याय : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, (बंगाल हिंदी मण्डल, सं० २०११) पृ० २२८ (प्रथम भाग) पर उद्धृत।

मंक्खलि ने 'आजीवक संप्रदाय' की बातें स्वीकार ली थी और ये उसका एक महान प्रचारक बन कर दूसरों से शास्त्रार्थ करते फिरते थे। इनको 'दैववादी' वा 'नियतिवादी' भी कहते हैं, क्योंकि इन्हें कर्म करने में विश्वास नहीं था। इनकी इसी विशेषता के कारण कभी-कभी इन्हें कुछ लोग "अकर्मण्यवादी" तक कह डालते हैं। इनके पीछे कई शिष्य हो गए थे और बहुत से लोगों को इन्होंने जैन धर्म से भी लेकर उन्हें अपना अनुयायी बना लिया था। ये कुछ काल तक एक अपनी शिष्या कुंभारिन के घर भी रहा करते थे जो श्रावस्ती की थी और जिससे इन्हें अपने मत के प्रचार में बड़ी सहायता मिली थी।

मंक्खलि का कहना था कि "प्राणी के क्लेश का अथवा उसकी बुद्धि का कोई कारण नहीं है। बिना किसी कारण के ही वह क्लेश पाता है और फिर उससे बिना किसी कारण के ही शुद्ध भी हो जा सकता है। वह अपनी शक्ति के आधार पर कुछ भी नहीं कर सकता, न वह दूसरे किसी की शक्ति का ही सहारा लेकर किसी कार्य में सफल हो सकता है। उसमें न तो बल है न वीर्य है और न पराक्रम ही है। सभी तत्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, परवश, निर्बल एवं निर्वीर्य हैं और भाग्य एवं संयोग के फेर में पड़ कर सुख-दुख भोगा करते हैं। जैसे, सूत की गोली फेंकने पर वह खुलती हुई गिर पड़ती है वैसे ही मूर्ख और पंडित दौड़ कर, आवागमन में पड़ कर, दुख का अंत करेंगे।[1] इनके अनुसार सुख एवं दुख दोनों ही नपे-तुले से रहते हैं और संसार में किसी का उत्कर्ष-अपकर्ष वा उन्नति-अवनति कभी उसके कारण नहीं होती। मंक्खलि के कतिपय शिष्यों ने, पीछे, उनके सिद्धांतों के आधार पर अष्ट चरमवाद का भी प्रचार किया था, जिसके अनुसार मानव जीवन में आठ प्रकार के चरम (अंतिम कर्त्तव्य) का होना आवश्यक है। इन आठों चरमों के नाम

१—सामञ्ञ फलसुत्त (दी० नि०)

(१) चरम पान (२) चरम गान (३) चरम नाट्य (४) चरम अंजलि-कर्म, (५) चरम पुष्कर संवर्तक महामेघ, (६) चरम सेचनक (७) चरम महाशिला कंटक संग्राम तथा (८) चरम तीर्थंकर बतलाये गए हैं, जिनमें से अंतिम चार का आशय स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं होता।

अजित केस कम्बलि का व्यक्तिगत नाम कदाचित् 'अजित' मात्र ही था। मनुष्य के बालों का कंबल ओढ़ने से वे केस कम्बलि भी कहे गए। ये कौन थे और कहाँ के निवासी थे इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। किंतु इनके मत का सार इस प्रकार दिया गया पाया जाता है—न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पाप वा पुण्य का ही कोई बुरा वा भला फल मिलता है। न माता है, न पिता है, न अयोनिज सत्व (अर्थात् देवता) हैं, न इस लोक में कोई ज्ञानी और समर्थ ब्राह्मण-श्रमण ही है जो इह लोक वा परलोक को जान कर तथा साक्षात्कार कर कुछ कह सकेंगे। मनुष्य चार महाभूतों से मिल कर बना है और जब वह मरता है तो शरीर की मिट्टी, मिट्टी में, पानी, पानी में, आग, आग में एवं वायु, वायु में मिल जाते है और इंद्रियाँ आकाश में चली जाती हैं और जब मृतक को खाट पर ले जाते हैं तो केवल जलाने तक ही चिह्न जान पड़ते हैं। हड्डियाँ कबूतर के रंग की सी हो जाती हैं, आहुतियाँ राख बन कर तितर-बितर हो जाती हैं। "दानकरो" यह मूर्खों का उपदेश है और जो आत्मा के अस्तित्व की बातें किया करते हैं उनका कहना नितांत तुच्छ और असत्य है। इसलिए मूर्ख हों चाहे पंडित शरीर छोड़ने पर सभी उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। इसी कारण, मरने के उपरांत किसी का कोई भी अंश शेष नहीं रह जाता।[1] अजित केस कम्बलि को, उनके इन्हीं जैसे विचारों के कारण भौतिकतावादी कहा गया है और कहीं-कहीं उन्हें विशुद्ध 'उच्छेदवादी' तक कह डाला गया है। उनका मत

---

१. सामञ्ञ फलसुत्त (दी० नि०)

बहुत कुछ चार्वाकों के मत से भी मिलता है जिस कारण कुछ लोग अनुमान करते हैं कि वे उन्हीं के अनुयायी भी रहे होंगे।

अजित केस कम्बलि की ही भांति हमें पबुध कच्चायन के भी व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। केवल इनके मत का सारांश दे दिया गया पाया जाता है, जिसके अनुसार इनका कहना था कि "पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख-दुख और जीवन ये सात पदार्थ अकृत जैसे हैं, अनिर्मित जैसे हैं और ये अवध्य, कूटस्थ एवं अचल हैं। ये न तो विकार को प्राप्त होते हैं, न हानिकारक ही हैं। यहाँ न कोई हंता है, न घातयिता है, न सुनने वाला वा सुनाने वाला ही है। यदि तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा किसी को काट दिया जाय तो भी किसी को प्राण से मारना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो शस्त्र गिरेगा वह, वस्तुतः उक्त सातों कायों (अथवा वस्तुओं) से रहित विवर में ही गिरेगा। इस प्रकार, इनके अनुसार अजित केस कम्बलि के उपर्युक्त चार भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त तीन अन्य भी तत्व हैं, जो वस्तुतः दीख न पड़ने वाले हैं। पबुध कच्चायन एक ओर जहाँ सुख, दुख एवं जीवन जैसी वस्तुओं को चार महाभूतों की भाँति, परमाणुवत मानते जान पड़ते हैं वहाँ दूसरी ओर वे उन भौतिक तत्वों को भी, इन अदृश्य पदार्थों के समान ही, अव्याप्त सा बना डालते हैं। क्योंकि तभी, इन सभी सातों के विद्यमान रहते हुए, भी हमारा शस्त्र, किसी व्यक्ति के सिर पर न पड़ कर नितांत शून्य स्थान में पड़ सकता है। फिर भी इस विचित्र मत का यह कथन कि न कोई हंता है और न घातयिता हैं तथा कोई-किसी को प्राण से नहीं मारता, हमें, ऊपर से, गीतोपदेश जैसा लगता है।

संजय बेलट्ठिपुत्त का मत, कदाचित् इनसे भी अधिक विलक्षण कहा जा सकता है क्योंकि ये किसी भी तत्व अथवा विषय के सम्बंध में कोई बात निश्चयपूर्वक बतलाते नहीं जान पड़ते, न उनके किसी शुभाशुभ परिणाम का ही परिचय देते हैं। अजित केस कम्बलि

एवं पबुध कच्चायन की ही भाँति इनकी जीवनी भी हमें उपलब्ध नहीं। किंतु इनके मत का सार इस प्रकार है "यदि आप मुझसे पूछें—क्या परलोक है ? और यदि मैं जानूँ कि परलोक है तो आप को बतलाऊँ कि परलोक है। मैं न तो ऐसा कहता हूँ न वैसा कहता हूँ, न मैं किसी दूसरे ढंग से ही इस विषय में कहा करता हूँ। न तो मैं यह कह सकता कि "यह नहीं है" न मैं यही कह सकता हूँ कि "यह नहीं नहीं है"। परलोक नहीं है, परलोक है भी और नहीं भी है, परलोक न है, न नहीं है। अयोनिज प्राणी अर्थात् देवता हैं, नहीं है, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं। अच्छे बुरे कर्मों के फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं।...यदि आप मुझसे ऐसा पूछें कि तथागत (मुक्त पुरुष) मरने के अनंतर भी रहते हैं और मैं ऐसा समझूँ कि वे रहते हैं, न नहीं रहते हैं तो मैं वैसा आप से कहूँ। मैं न तो ऐसा कहता हूँ न वैसा ही कहता हूँ।"[1] इस प्रकार संजय बेलट्ठिपुत्त अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति; न अस्ति न नास्ति जैसी प्रसिद्ध चारों कोटियों में से किसी भी एक पर अपनी आस्था रखते नहीं प्रतीत होते।

निगण्ठ नाटपुत्त अथवा महावीर नामक जैन धर्म के २४ वें तीर्थंकर के विषय में, शेष पाँच तित्थियों से कहीं अधिक बातें विदित हैं। जैन ग्रन्थों में ये वर्धमान तीर्थंकर के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, किन्तु बौद्ध साहित्य में इन्हें प्रायः निगण्ठ नाट पुत्त ही कहा गया है। इन्होंने सन् ५९९ ई० पू० में वैशाली (अर्थात् बसाढ़ जिला मुजफ्फरपुर) में जन्म ग्रहण किया था जो उन दिनों एक प्रसिद्ध गणतंत्री राज्य था। इनका जन्म-स्थान वस्तुतः कुण्डग्राम था जो वैशालीनगर के अति निकट था, किंतु, उसकी अप्रसिद्धि के कारण उसे वैशाली

---

१. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० २३० (प्रथम भाग) पर उद्धृत।

नाम दिया गया। लगभग तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने प्रवज्या ग्रहण की और १२ वर्षों की तपस्या के अनंतर सिद्धि प्राप्त करके ये वर्धमान से महावीर कहलाये। इन्होंने विशेषतः कोसल एवं मगध के राज्यों में भ्रमण करके अपने उपदेश दिये तथा जैन धर्म का प्रचार किया। कहते हैं कि अपने जीवन के अवशेष भाग अर्थात् पिछले तीस वर्षों में इन्होंने प्रचार-कार्य किया था और सन् ५१७ ई० पू० में इनका निर्वाण हुआ था। इनके द्वारा प्रचारित जैन धर्म आज भी जीवित है और इस समय उसमें कई एक संप्रदायों की सृष्टि हो गई है। इनके जीवन-काल में ही इनके दो प्रमुख शिष्यों ने, इनके साथ मतभेद हो जाने के कारण, अपने लिए भिन्न मतों की स्थापना कर ली थी। उनमें से प्रथम संघविच्छेदक के रूप में जमालि का नाम लिया जाता है, जो कदाचित्, इनका भागिनेय भी था। उसने इनके क्रियमाण कृत सिद्धांत (अर्थात् वह सिद्धांत जिसके अनुसार जो कार्य आरंभ कर दिया गया, वह पूर्ण हो गया) के विरुद्ध अपने बहुरतवाद (अर्थात् वह सिद्धांत जिसके अनुसार किसी कार्य के प्रायः पूरा हो जाने को ही पूर्ण हो जाना कहा जाता है) का प्रचार किया। इनका दूसरा अनुयायी गोशालक नाम से प्रसिद्ध है जिसे पूर्वोक्त मंक्खलि गोसाल से अभिन्न समझा जाता है और जिसके नियतिवाद का महावीर ने भी खंडन किया है।

बौद्ध धर्म ग्रन्थों में निगण्ठ नाट पुत्त के 'चतुर्याम संवर' की चर्चा की गई है, जिसके अनुसार ये चार प्रकार के संयम को मानते थे अर्थात् (१) जीव हिंसा के भय से ये जल के व्यवहार का संयम (२) सभी पापों का वारण (३) ऐसे वारणों के लिए उद्योगशील होने तथा (४) उनके द्वारा सदा धूतपाप बन जाने को विशेष महत्व देते थे और इसकी, अनेक स्थलों पर, विस्तृत व्याख्या की गई थी। इसी प्रकार इनका यह भी आग्रह था कि तपः साधना को विशेष रूप से अपना कर उसके द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त की जाय। परंतु यह स्पष्ट है

कि तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का विषय केवल यहीं तक सीमित नहीं था, प्रत्युत उनके आधारभूत दार्शनिक दृष्टिकोण तथा उन पर आश्रित नैतिक नियमों की सुंदर व्यवस्था एवं व्यापकता के बल पर अनुमान किया जा सकता है कि उसका आदर्श अत्यंत उच्च और सार्वभौम कोटि का रहा होगा। गौतम बुद्ध एवं तीर्थंकर महावीर दोनों का आविर्भाव एक ही युग में हुआ था, दोनों का कर्म-क्षेत्र प्रायः एक ही थी। दोनों श्रमण-संस्कृति के सबल समर्थक थे तथा, अपने समय की धार्मिक विचारधारा को उचित, उपयुक्त एवं व्यावहारिक रूप देकर, उसे सम्यक् प्रकार से प्रवाहित करने के पक्षपाती थे। दोनों ने ही अपने-अपने प्रयत्नों में बहुत कुछ सफलता पायी, किंतु, जैसा उन दोनों के उपलब्ध उपदेशों के अनुशीलन से पता चलता है, प्रमुख प्रश्नों को सुलझाते समय, उनमें मौलिक दृष्टि-भेद आ गया। उनके मत भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करके प्रचलित हुए तथा उनके क्रमिक विकास एवं प्रभाव की व्यापकता में भी महान् अंतर का आना संभव हो गया।

"सामञ्ञ फलसुत्त" के अंतर्गत जहाँ उपर्युक्त छहों विचारकों की चर्चा की गई है वहाँ उनके मतों का केवल संक्षिप्त निदर्शन नहीं किया गया है। जैसा हम इसके पहले भी कह चुके हैं, उसके द्वारा हम उनके विषय में न तो कोई सम्यक धारणा बना सकते हैं, न स्वभावतः उन बातों को ही समुचित महत्व दे सकते हैं जो वहाँ उनकी समीक्षा के रूप में प्रकट की गई है। प्रत्यक्ष है कि, उन स्थलों पर गौतम बुद्ध की केवल उन्हीं उक्तियों को संगृहीत किया गया है, जिन्हें प्रसंग विशेष के कारण, कोई महत्व दिया जा सकता था। उस महापुरुष को एक महान् दार्शनिक एवं स्वतंत्र विचारक स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। किंतु फिर भी यह कह डालना कि उन्होंने प्रत्येक दूसरे मत को उसके सर्वांगीण रूप में व्यक्त किया तथा उसकी समुचित समीक्षा भी कर दी, संभवतः सत्य के निकट न

होगा। यह कहना, कदाचित्, अधिक न्याय संगत जँचे कि जो कुछ गया है वह समयानुसार और, केवल प्रासंगिक रूप में ही प्रकट किया किया गया है उतने मात्र के आधार पर हम न तो उक्त विचारकों के पूरे मत को जान सकते हैं न उनको हीन अथवा श्रेष्ठ ही ठहरा सकते हैं। "ब्रह्मजाल सुत्त" में उल्लिखित ६२ मिथ्या दृष्टियों की चर्चा से हमें इस बात का और भी समर्थन मिलता है और जब हमारी दृष्टि जैन ग्रन्थ 'सूत्र कृतांग' की ओर जाती है और हम उसकी ३६३ अन्य दृष्टियों को पढ़ते हैं तो हमें यह अनुमान करते भी विलंब नहीं लगता कि अपने से भिन्न वा विरोधी जान पड़ने वाले मतों का उल्लेख कर, उनकी आलोचनात्मक चर्चा करना तत्कालीन धर्म प्रचारकों के लिए कदाचित् एक नियम सा हो गया था।

"ब्रह्मजाल सुत्त" के अंतर्गत निकाले गये अंतिम परिणाम से पता चलता है कि उन दिनों जितने भी वाद प्रचलित थे वे निरर्थक से थे। वास्तविक रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना सबके लिए सुगम नहीं है, न वह उतना अनिवार्य ही समझा जाना चाहिए। जिस तथ्य को समझ कर तथा अनुभव करके तथागत घोषित कर रहे हैं वह अत्यंत गूढ़ है, अगोचर है, अगम्य है, शांत एवं शुद्ध है तर्क-पद्धति के क्षेत्र से परे हैं, सूक्ष्म है और वह केवल उन्हीं के लिए बोधगम्य है जो विशुद्ध ज्ञान वाले हैं।[1] अतएव, श्रमण-जीवन का भी वास्तविक उद्देश्य यही हो सकता है कि उन तात्त्विक एवं नैतिक प्रश्नों की ओर अधिक ध्यान न दिया जाय, प्रत्युत साधकों की जीवन-चर्या की ही विशेष चर्चा की जाय तथा उन्हें इस बात का शिक्षण दिया जाय कि वे किस प्रकार विशुद्ध नैतिक आचरण, ध्यान तथा पूर्ण बोधि की उपलब्धि के लिए सतत प्रयत्नशील बनें। गौतम बुद्ध ने पूरण कस्सप के अक्रियावाद एवं पकुध कच्चायन के 'अकृततावाद' का आलो-

1 History of Buddhist Thought, P.74 (quoted)

चनात्मक परिचय देते समय, इस बात को सदा अपने ध्यान में रखा और अपने "क्रियावाद" का प्रचार करते हुए समाज के भीतर नैतिक व्यवस्था लाने की भरपूर चेष्टा की। उन्होंने इस दृष्टि से मंक्खलि गोसाल के दैववाद वा नियतिवाद का भी विरोध किया तथा संजय बेलट्ठिपुत्त की भांति, किसी अनिश्चिततावाद की जैसी संदेहात्मक मनोवृत्ति को स्वीकार न करते हुए, अजित केस कम्बलि के भौतिकवाद वा 'उच्छेदवाद' जैसे मतों के प्रति उन्होंने अपने को अनुष्ठित भी नहीं किया।

परंतु यह भी मान लेना कदाचित् उचित नहीं कि गौतम बुद्ध ने अपने समय के प्रचलित दार्शनिक मतों से कभी कोई प्रेरणा नहीं ग्रहण की होगी। हम देख चुके हैं कि जिस समय कर्मकाण्ड और वितण्डावाद की प्रतिक्रिया में उन्होंने अपनी साधना आरंभ की थी, उसके विरोध का बीज, उनके बहुत पहले से अथवा कदाचित् उपनिषद् साहित्य के रचना-काल में ही पड़ चुका था। उनके समय तक दुखवाद, क्षणिकवाद, कर्मवाद, आदि सम्बंधी अनेक विशिष्ट धारणाओं की ओर किये गए विविध संकेतों का भी अभाव न था। उनके युग में न केवल औपनिषदिक विचारधारा ही प्रवाहित हो रही थी और यति धर्म का भी प्रचार था, अपितु, जैसा प्रारंभिक बौद्ध ग्रन्थों के देखने से पता चला है, उस समय न्याय, सांख्य एवं योग दर्शनों की अनेक बातें भी वातावरण में प्रवेश पा चुकी थीं। ऐसी दशा में उनका इनकी विशिष्ट बातों से भी बहुत कुछ प्रभावित हो जाना कुछ असंभव नहीं हो सकता था। कुछ पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि गौतम बुद्ध अपनी कई मान्यताओं के लिए सांख्य दर्शन के ऋणी ठहराये जा सकते हैं और इस बात में उनके साथ अनेक भारतीय विद्वान भी सहमत हैं। इस मत के प्रमाण में प्रायः यह भी कहा जाता है कि अपने तत्व-चिंतन के प्रारंभिक दिनों में उन्होंने आलार कालाम एवं उद्दक रामपुत्त से शिक्षा पायी थी जो संभवतः दोनों ही सांख्य एवं

योग दर्शन द्वारा प्रभावित थे। अश्वघोष ने अपनी रचना 'बुद्धचरित' के बारहवें सर्ग में इस विषय पर प्रकाश डाला है और उसे 'अराड दर्शन' का नाम तक दे डाला है। परंतु यदि प्रारंभिक बौद्ध दर्शन एवं सांख्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, पूरी छानबीन के साथ किया जाय तो यह बात पूर्णतः सिद्ध नहीं हो पाती।[1] फलतः इस प्रकार अनुमान करना कदाचित् अधिक समीचीन होगा कि गौतम बुद्ध की विचारधारा में उन दिनों सांख्य दर्शन के सिद्धांत केवल अपक्व रूप में ही समाविष्ट हो पाये होंगे और पीछे स्वतंत्र रूप से पृथक-पृथक् विकसित होने के कारण उनमें बहुत अंतर दीख पड़ने लगा होगा।

---

1. History of Buddhist Thought, p. 80.

धार्मिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

बौद्ध एवं जैन धर्म सम्बंधी प्राचीन ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि गौतम बुद्ध के आविर्भाव-काल में उत्तरी भारत के निवासियों का धार्मिक जीवन एक समान आदर्शों का अनुसरण करनेवाला नहीं था। उसमें विविधता वा बहुरूपता आ गई थी जिसका किंचित् अभास दिलाने के लिए हमें उसे कम से कम दो विभिन्न कोटियों में रखकर देखना पड़ सकता है। इनमें से प्रथम को अधिकतर वे व्यक्ति ही अपनाते थे जिन्हें उच्च वर्ग का समझा जाता है। वे या तो ब्राह्मणों के पंडित वा पुरोहित वर्गों वाले रहा करते थे अथवा उनमें ऐसे लोग संमिलित थे जिन्हें प्रायः धनी-मानी वा अधिकारी वर्गों में गिना जाता है। इसी प्रकार द्वितीय कोटि के धार्मिक जीवन को अपनाने वाले विशेषतः वे लोग थे जिनके समुदाय को 'सर्वसाधारण' कहा जाता है। इन दोनों में एक महान अंतर यह था कि प्रथम के लिए जहाँ प्राचीन वैदिक आदर्शों का अनुसरण करना तथा आप्त वचनों का आश्रय लेना आवश्यक समझा जाता था, वहाँ द्वितीय कोटि के अनुसार चलने वाले लोग इस प्रकार के बंधनों से बहुत कुछ मुक्त रहते थे। बहुधा अशिक्षित रहने के कारण वे ऐसी बातों को पूरा महत्व नहीं दे पाते थे, प्रचलित परंपराओं का पालन ही कहीं अधिक प्रिय था। इसके सिवाय उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि इस द्वितीय कोटि का जीवन-यापन करने वाले लोगों की संख्या उस समय तक उक्त प्रथम कोटि वालों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ी भी रही होगी। हाप्किंस का तो यहाँ तक कहना है कि वैदिक वा ब्राह्मणधर्म का क्षेत्र वस्तुतः, केवल एक छोटे-से समुदाय तक ही सीमित था और वह उस बहुसंख्यक

जन-समूह के विस्तृत सागर में एक द्वीप सा कहा जा सकता था जिसका धार्मिक जीवन अधिकतर अंधविश्वास पर ही निर्भर था।[1]

पुराने पालिग्रन्थों में जिस वैदिक धर्म का परिचय दिया गया मिलता है, उसके अनुयायियों को वहाँ प्रायः 'सोत्थिय' एवं 'महासाल' कहा गया है और उसके वहाँ पर कम से कम तीन भेद भी किये गए जान पड़ते हैं। तदनुसार पहले को हम उसके 'भावात्मक' वा 'रागात्मक' पक्ष का नाम दे सकते हैं और उसमें विशेषकर 'इंद्र, सोम, वरुण, ईशान, प्रजापति, ब्रह्मा, महिद्धि और यम' जैसे देवताओं का आह्वान, उनके प्रति प्रार्थना, याचना अथवा अभिनन्दन के उद्देश्य से किया जाता है। इस प्रकार की बातें कहीं-कहीं 'जातक' में भी पायी जाती हैं, जहाँ पर देवताओं के राजा 'सक्क' की चार पुत्रियाँ 'आसा' (आशा), 'सद्धा' (श्रद्धा), 'सिरी' (श्री) एवं 'हिरी' (ह्री) के नामों से बतलायी गई हैं और उन्हें देवियों जैसी मानते हुए, उनका आह्वान भी किया गया है। 'ऋग्वेद' से लेकर 'जातक' तक स्त्रियोचित गुणों को अमूर्त से मूर्त रूप देने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर स्पष्ट होती गई जान पड़ती है और अंत में उन्हें पूर्ण व्यक्तित्व तक मिल जाता है।[2] उस युग के वैदिक धर्म का एक दूसरा पक्ष 'याज्ञिक' वा यज्ञ सम्बंधी है जिसमें गौओं, बैलों, भैसों, हाथियों, घोड़ों, बकरों, भेड़ों आदि के बलिदान की व्यवस्था है। ऐसे बलिदानों में अश्वमेध एवं नरमेध तक की चर्चा आती है और उन्हें पुरोहित एवं महासाल विशेष महत्व देते देखे जाते हैं। ऐसे अवसरों पर महान् उत्सवों का आयोजन किया जाता है और बहुत सा दान भी दिया जाता है। इसी प्रकार वैदिक धर्म के तृतीय अंश का नाम 'विधिबहुल' पक्ष दिया जा सकता है जिसमें 'अग्गिहुत्त '(अग्निहोत्र) जैसे विविध नित्यकर्मों

1. Hopkins : 'Religions of India', Chapter IX

2. B. C. Law: India as described in Early Texts of Buddhism and Jainism, P. 504

का संपादन परम कर्तव्य समझा जाता है।

परंतु बौद्ध एवं जैन धर्म सम्बंधी प्राचीन ग्रन्थों में ब्राह्मण धर्म को इस प्रकार भी चित्रित किया गया है जिससे हम इसमें यंत्र, मंत्र, टोना, टोटका, भूतविद्या, स्वप्नविचार, शकुनशास्त्र, आदि जैसे विषयों को ही अधिक महत्व देते देखने लगते हैं। इन बातों से विशेष परिचय रखने वाले लोगों को उन दिनों के महाराजे तथा दर्बारी भी अधिक आदर देते हैं। यदि कभी वे किसी दुःस्वप्न अथवा भौतिक दुर्घटनाओं से भयभीत होते हैं तो उन्हें संमानपूर्वक निमंत्रित कर उनसे उचित विचार कराते हैं। 'जातक' में तो यहाँ तक बतलाया गया है कि जब राजा 'पसेनदि' की महारानी को 'स्वप्न-विचार' कराने की आवश्यकता पड़ी तो उस समय राजा ने इसके लिए ब्राह्मणों की अपेक्षा स्वयं गौतम बुद्ध को ही अधिक योग्य माना था। वास्तव में पुराने पालि ग्रन्थों के अंतर्गत ऐसे अनेक 'भयों' के भी स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं जिनसे उन दिनों के भारतवासी प्रायः सशंकित रहा करते थे। 'जातक' में इनकी संख्या सोलह तक दी गई पायी जाती है और 'मिलिंद प्रश्न' के अंतर्गत यह सत्रह तक पहुँच जाती है। ऐसे 'भयों' में शासकों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का भय, चोरों डाकुओं का भय, भूतों का भय, अकाल का भय, रोगों का भय जैसे बहुत से गिनाये जा सकते हैं। बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने, इनसे बचाव के लिए, पीछे विभिन्न 'परित्तों' के उच्चारण को विशेष महत्व दिया और जैनियों ने भी कदाचित्, इसी विचार से, उन 'अष्ट-मंगलों' की व्यवस्था की जिनमें 'सोवत्थिय' (स्वस्तिक) 'सिरिवच्च' (श्रीवत्स) 'नन्दियावत्त' (नन्द्यावर्त्त) 'वद्धमाणाग' (वर्द्धमान), 'भद्दासण' (भद्रासन), कलश, 'मच्छ' (मत्स्य), और दप्पण (दर्पण) के नाम लिये जाते हैं।[1] बौद्धों के 'पालि ग्रन्थ' 'खुद्दक पाठ' में भी जो 'मंगल-

---

१. औपातिक सूत्र, भाग ४९।

सुत्त' आया है उसमें भी मानव कल्याण के लिए सैंतीस प्रकार के मंगलों की चर्चा पायी जाती है।

अनेक विद्वानों के मत से इस प्रकार की बातों का मूल स्रोत 'अथर्ववेद' समझा जा सकता है। तदनुसार, ऐसी चर्चाओं के आधार पर ही प्राचीन वैदिक धर्म के अनुयायियों को अपने समकालीन आदिवासियों के संपर्क में आने की विशेष सुविधा मिली होगी। पीछे वैदिक मंत्रों के जानकर ब्राह्मण याजक और पुरोहित भी उनकी सहायता से सर्वसाधारण तक सुगमता के साथ पहुँचने लग गए और सबकी दृष्टि में परम कल्याण के कर्त्ता एवं पूर्णतः विश्वसनीय भी बन गए। अतएव, हो सकता है कि उन्हीं के अनुकरण में, बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रचारकों ने क्रमशः ऐसी बातों को भी अपना लिया हो जो उनके सुधारपरक सिद्धांतों के प्रत्यक्षतः प्रतिकूल जाती जान पड़ती थीं।

जन साधारण के धार्मिक जीवन में प्रधानतः दो प्रकार की भावधारा काम करती दीख पड़ती थी। कुछ लोग जहाँ पूर्वप्रचलित परंपराओं के अनुसार देवताओं की उपासना में विश्वास करते थे और 'देवधम्मिक' अथवा 'देववतिक' के नाम से अभिहित होते थे, वहाँ दूसरे लोग विभिन्न प्रचलित पंथों का अनुसरण करना ही अधिक श्रेयस्कर समझते थे और उनकी विशिष्ट गुरु-परंपराएँ भी चला करती थीं। देवधम्मिकों की उपासना में भक्ति एवं श्रद्धा का अंश अधिक रहा करता था और वे किसी न किसी प्रकार की विधियों के अनुष्ठान भी करते थे। वे प्रायः व्रत रहते थे और अपनी प्रार्थनाओं के बल पर इष्टदेवों को प्रसन्न कर उनसे लाभान्वित होने में भी विश्वास करते थे। उनके इष्टदेव वस्तुतः विभिन्न दैवीगुणों के मूर्तरूप हुआ करते थे और उनके साथ ये सदा सानिध्य का अनुभव भी करते थे। जो जैसा उपासक होता था, ठीक उसी के अनुकूल उसके इष्टदेव की कल्पना भी हुआ करती थी और तदनुसार ही उसे व्यक्तित्व भी प्रदान किया जाता था। इसी प्रकार इष्टदेव का जो

कुछ नाम होता था, उसी के आधार पर उसके उपासक का नाम भी पड़ जाया करता था। इसके लिए कदाचित् यह नियम दृढ़ सा बन गया था कि 'ये येसां दक्खिणेय्या ते तेसां देवता'[1] अर्थात् जो जिनकी उपासना के योग्य जान पड़ें, वे ही उनके देवता ठहराये जा सकते हैं। इसके उदाहरण उन दिनों के जन-समुदाय में ढूँढ़ने पर बहुत अच्छी संख्या में मिल सकते थे। फिर भी प्रत्येक ऐसे साधक वा उपासक के लिए प्रायः किसी पुरोहित की भी आवश्यकता पड़ जाती थी जो उसके तथा उपास्य के बीच माध्यम बन जाया करता था।

'चुल्लनिद्देस' तथा अन्य ऐसे पालि ग्रन्थों में देवताओं को स्थूल रूप में कम से कम तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। वे मानों 'सम्मतिदेव' अथवा सर्वसम्मति द्वारा स्वीकृत देवता समझे जाते थे, 'उपपत्तिदेव' वा उत्पत्ति से ही मान लिये गए कहे जाते थे वा उन्हें 'विसुद्धि देव' की संज्ञा दी जाती थी जिससे अभिप्राय उन देवताओं का था जो विशेषतः शुद्धता वा निर्मलता के कारण प्रसिद्ध थे। वहीं पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया मिलता है कि उक्त प्रथम वर्ग में राजाओं, राजकुमारों, रानियों एवं राजकुमारियों की गणना की जाती थी। दूसरे वर्ग में जनता द्वारा पूजे जाने वाले अनेक देवता आ जाते थे तथा तीसरे वर्ग में विभिन्न प्रचलित मतों के प्रचारक, उनके शिष्य एवं संतों को स्थान दिया जाता था। इसका कारण कदाचित् यही था कि राजा, रानी, आदि जहाँ सर्वसाधारण द्वारा मान्य थे, देवी, देवता स्वभावतः सबके आराध्य समझे जाते थे, वहाँ धार्मिक नेताओं को भी, उनकी सुधारवादी चेष्टाओं के कारण, दूसरों के लिए पूजार्ह मान लिया गया था। 'देवधम्म जातक' में तथा 'चुल्लनिद्देस' में भी इस प्रकार के देवों के अंतर्गत सूर्य, चंद्र, अग्नि,

---

१. चुल्लनिद्देस

नाग, गरुड़, यक्ष, गंधर्व, असुर, आदि बहुतों के नाम गिनाये गए हैं। इसी प्रसंग में वासुदेव, बलदेव, पुण्णभद्द, मणिभद्द, जैसे नाम लेकर फिर आजीविकों, निगन्थों, जटिलों, परिब्बाजकों एवं अविरुद्धकों की भी चर्चा कर दी गई है। 'चुल्लनिद्देस' वाली सूची में तो एक स्थल पर हाथियों, घोड़ों, गौत्रों एवं कुत्तों तक को पूजनीय ठहराया गया दीख पड़ता है।

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक विकास का इतिहास पढ़ते समय जान पड़ता है कि उसमें पहले 'रूपब्रह्म' एवं 'अरूपब्रह्म' नामक दो प्रकार के देवों को स्वीकार किया जाता था। इनमें से दूसरे में केवल चार ही कोटियाँ थीं जहाँ पहले की कोटियों की संख्या सोलह से कम न थी। 'अरूपब्रह्म' सबसे उच्च श्रेणी का देव था, जिसके नीचे 'रूपब्रह्म' आता था और इसके नीच आने वाले देवों को 'कामावचारदेव' की संज्ञा दी गई थी। ऐसे कामावचार देवों के ही अंतर्गत चार 'लोकपाल' आ जाते थे जो आकाश, अंतरिक्ष एवं भूमि पर वर्तमान क्षुद्र देवों पर शासन किया करते थे। सभी के नीचे क्रमशः साधारण मानव, पशुवर्ग एवं भूतादि को स्थान दिया गया था। फिर भी 'अरूप ब्रह्म' की पहुँच स्वयं गौतम बुद्ध तक भी नहीं समझी जाती थी, क्योंकि उसके ऊपर उन बौद्ध संतों को स्थान दिया जाता था जो 'अरिय' कहलाते थे और इनके भी ऊपर बुद्ध थे। इसी प्रकार जैन धर्म के प्रारंभिक रूप से भी पता चलता है कि वहाँ 'जिन' को सबसे उच्च स्थान वा पद प्रदान किया गया था, जिनके नीचे उनके शिष्य थे। इस शिष्य वर्ग से निम्न स्तर वाले देवों को 'वैमानिक देव' कहा जाता था जिनके नीचे क्रमशः 'ज्योतिषी', 'वाणमंतर' तथा 'भवनवासी' आते थे। वैमानिक देवों में 'सोहम्म ईशाण', 'सणनकुमार', 'महींद', 'बम्भा' आदि के नाम लिये गए हैं। ज्योतिषियों में सूर्य, चंद्र, विभिन नक्षत्र एवं राहु आदि गिनाये गए हैं। वाणमंतरों में भूतों, पिशाचों, यक्खों, किन्नरों, गंधर्वों आदि की

चर्चा की गई है और भवनवासियों के अंतर्गत असुर, नाग, अग्नि, पवन, विज्जु, उदहि (उदधि) आये हैं। इन सभी के नीचे वाले स्तर पर वे आते हैं जिन्हें भूप्राणी, जलप्राणी, अग्निप्राणी एवं वायुप्राणी कह सकते हैं। इस प्रकार देखने से जान पड़ेगा कि उक्त दोनों धर्मों ने कदाचित् एक ही मूलस्रोत से प्रेरणा ली होगी।

प्राचीन बौद्ध एवं जैन धर्म-ग्रन्थों के अंतर्गत उन दिनों के तापसों, परिव्राजकों आदि की भी जीवन-चर्या का बहुत स्पष्ट एवं सविस्तार वर्णन आता है। ब्राह्मण धर्म के अनुसार, सांसारिक जीवन का परित्याग करते समय, ऐसे व्यक्तियों को 'वानप्रस्थ' की संज्ञा दी गई है। संभवतः, इसी प्रकार के नियम-पालन को पालि भाषा में 'इसिपब्बज्जा' (ऋषिप्रवज्या) भी कहा गया मिलता है। ये संसार त्याग का व्रत लेने वाले प्रधानतः ब्राह्मण और 'खत्तिय' (क्षत्रिय) हुआ करते थे और इनमें कभी-कभी कुछ 'गहपति' (वैश्य) भी देखे जाते थे। केवल एक ही उदाहरण ऐसा मिलता है जिसमें 'मातंग' वा चांडाल जाति के किसी व्यक्ति ने भी उक्त प्रकार से प्रवज्या ग्रहण की थी।[1] शूद्रों का नाम नहीं आता। तापस अपने संसार-त्याग के अनंतर वन में जाकर कोई उपयुक्त स्थल चुनता था और वहाँ किसी जलाशय के निकट आश्रम बनाता था। वह कभी-कभी अपने साथ अपने परिवार के कुछ व्यक्तियों को भी ले जाता था अथवा वहाँ पर अपने शिष्यों को ठहराया करता था। वे लोग केवल कंद, मूल, फल पर अपना जीवन व्यतीत करते थे और वृक्षों की छाल अथवा मृगचर्म पहना करते थे तथा जटा रखते थे। बौद्ध एवं जैन धर्म के उदय-काल के बहुत पहले से ही ऐसे लोग अपने आश्रम, हिमालय, विंध्य-गिरि अथवा गंगा वा यमुना के तट पर बनाते आ रहे थे। उनके ये निवासस्थल प्रायः ऐसे सुंदर बने दीख पड़ते थे कि उन्हें विश्वकर्मा

---

१. मातंग जातक, सं० ४९७

द्वारा निर्मित तक स्वीकार कर लिया जाता था। इन तापसों में कभी-कभी ऐसे व्यक्ति भी दीख पड़ते थे जो पहले किसी न किसी राज्य का शासन कर चुके होते थे। बौद्धों के जातकों एवं जैनों के 'उत्तराध्ययन सूत्र' जैसे ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रसिद्ध राजाओं की चर्चा आती है, जिन्होंने अंत में, तापस जीवन स्वीकार किया था। इनमें गंधार के नग्गजी, पंचाल के दुःमुख, विदेह के निमि, विदर्भ के भीम तथा कलिंग वाले करकंडु के नाम लिये जा सकते है।

'मखादेव सुत्त' में आता है कि किस प्रकार विदेह वंश के आदि पुरुष महादेव ने अपने सिर के किसी एक पके बाल को देखते ही, उसे अपनी भावी मृत्यु का सूचक मान लिया था और अपने पुत्र निमि को राज्य का शासन भार समर्पित करके राजर्षि का जीवन अपनाया था।[1] इसी प्रकार काशी के शरभंग नामक ब्राह्मण सेनापति ने अपने जीवन से विरत होकर, विंध्यक्षेत्र में गोदावरी के तट पर प्रवज्या ली थी।[2] कोसलराज पसेनदि के पुरोहित बावरी ने भी सांसारिक जीवन से सम्बंध-विच्छेद करके गोदावरी के तट पर अपना आश्रम बनाया था। इस बात के लिए भी उदाहरणों की कमी नहीं कि ऐसे आश्रमों के पड़ोस में फिर क्रमशः अनेक सुंदर नगर बसने लग जाते थे। इस प्रकार निर्जन कहे जाने वाले वन में हो कपिलवत्थु, सावत्थी काकंड़ी और माकंडी जैसे समृद्धिशाली नगरों का निर्माण हो जाता था।[3] ऐसे आश्रमों के बीच किसी निश्चित मार्ग-प्रणाली के अधिक उदाहरण नहीं मिलते। 'सरभंग जातक' से पता चलता है कि बनारस से पंचवटी की ओर यात्रा करते समय अधिकतर 'एक पदिक

---

१. मज्झिम निकाय

२. सरभंग जातक, सं० ५

3. B. C. Law : India as described in Early Texts of Buddhism and Jainism, P. 218 19.

मग्ग' अर्थात् पगडंडी से चलना पड़ता था और किसी न किसी 'बन-चरक' से सहायता लेनी पड़ती थी।[1] परंतु बावरी के समय तक 'राजगह' (राजगृह) एवं 'पतिट्ठाण' (प्रतिष्ठान) के बीच राजमार्ग का निर्माण हो गया था। गौतम बुद्ध के समय में 'गयाखेत्त' (गयाक्षेत्र) के अंतर्गत तीन 'कस्सप' (कश्यप) बन्धुओं के 'जटिल' अनुयायियों की तीन बस्तियों का पता चलता है।

उत्तरी भारत में उन दिनों 'परिब्बाजकों' के कई संप्रदाय प्रचलित थे जो साल के ८-९ महीनों तक सर्वत्र घूम-घूम कर उपदेश देते रहते थे। राइस डेविड्स के अनुसार ये लोग भी ग्रीक सोफियों की भांति विभिन्न श्रेणियों के व्यक्ति हुआ करते थे और सत्संग करते फिरते थे।[2] ये प्रायः वस्त्र एक ही धारण करते थे, मुंडन किये रहते थे (जिस बात में जटिल तापसों से भिन्न दीख पड़ते थे), गृहविहीन रहा करते थे और चतुर्मासे में भी केवल गुहाओं वा शून्यागारों में ही निवास करते थे और भिक्षा के आधार पर ही जीने के कारण अधिक-तर 'भिक्खु' कहे जाते थे। इनमें से कुछ लोग, वस्त्रहीन भी रहने के कारण, अचेलक वा 'नग्गपब्बजित' (नग्नप्रवजित) नाम से अभिहित होते थे और जो मृगचर्म पहना करते थे। उन्हें 'चम्म साटक' नाम दिया जाता था तथा कुछ को उनके गोत्र नामों से भी पुकारा जाता था। ऐसे परिव्राजकों की ही कोटि में बहुधा उन श्रमणों की गणना की जाती है जिनकी कम से कम ६३ संस्थाएँ प्रचलित थीं और उनमें भी छह बहुत प्रमुख थीं। बौद्धों ने उनके महापुरुषों को 'तित्थियों' की संज्ञा दी है और उनके पूरणकस्सप, मंक्खलिगोसाल, पकुध कच्चायन, अजित-केस कम्बलि, संजय बेलट्ठिपुत्त और निगण्ठ नाट-पुत्त नाम भी बतलाये हैं। इनमें से छठें वस्तुतः जैनधर्म वाले महावीर

1. सरभंग जातक, सं० ५, पृ० १३२
2. Rhys Davids : Buddhist India, P. 141.

ही थे और संजय बेलट्ठि नामक किसी क्षत्रिय वंश के व्यक्ति थे, शेष ब्राह्मण थे। पूरण कस्सप के मत को 'अक्रियावाद' कहते थे जिसके अनुसार मनुष्य जो कुछ भी करे उसके लिए वह पाप वा पुण्य का भागी नहीं हुआ करता। मंक्खलि गोसाल के मत को इसी प्रकार 'नियतिवाद' वा 'देववाद' कहा जाता है, जिसके अनुसार सभी प्राणी केवल नियति द्वारा चालित होते रहते हैं। प्रबुद्ध कात्यायन (पबुध कच्चायन) का मत भी एक प्रकार का 'शाश्वतवाद' था, जिसके अनुसार आत्मा एवं जगत् दोनों ही नित्य और अपरिवर्तनशील हैं। अजित केस कम्बलि सदा कंबल पहना करते थे और वे मृत्यु के अनंतर अस्तित्व न स्वीकार करने के कारण 'उच्छेदवाद' की नास्तिकता के समर्थक थे। संजय बेलट्ठिपुत्त को 'संदेहवादी' कहा गया है, क्योंकि वे किसी तत्व के विषय में कभी कोई निश्चय नहीं कर पाते थे।

इन तापसों एवं परिव्राजकों के अतिरिक्त, उन दिनों, एक विशिष्ट संप्रदाय उन लोगों का भी था जो योग-साधना में निरत रहा करते थे। 'अरिय परियेसन सुत्त' नामक पालि ग्रन्थ से पता चलता है कि गौतम बुद्ध के समय आलार कालाम तथा उद्दक रामपुत्त नामक दो प्रसिद्ध योगी थे, जिनसे राजगृह से उरुवेला की ओर यात्रा करते समय, उन्होंने योग साधना सीखी थी।[1] उरुवेला में निवास करते समय भी उन्होंने अचेलक वा आजीवक वर्ग के योगियों द्वारा शिक्षा ग्रहण कर 'अप्पाणक झाण' (अर्थात् हठयोग वाले कुंभक) का अभ्यास किया था। उन दिनों की सर्वसाधारण जनता में भी योग-साधना के महत्व में पूर्ण आस्था रहा करती थी और वे इसकी सिद्धियों में विश्वास करते थे। उनकी धारणा थी कि जिस व्यक्ति को जितना ही अधिकार विभिन्न चमत्कारों के प्रदर्शन में होगा उतनी ही उच्च कोटि का वह महापुरुष भी हो सकता है। सावत्थि में जिस

१. मज्झिम निकाय (२)

समय अनेक दर्शकों के समक्ष गौतम बुद्ध ने चमत्कारी बातें दिखला दीं उस समय से उनकी धाक सी जम गई।[1] तब से उनके अनुयायियों का विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि वे न केवल एक उत्कृष्ट विचारक थे, अपितु एक सिद्ध योगी भी थे। फिर भी जैनों के 'आचारांग सूत्र' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि उन दिनों रमते लोगों के प्रति सभी व्यक्ति एक ही प्रकार का व्यवहार नहीं किया करते थे। महावीर स्वामी जिस समय लाढ़ देश में भ्रमण कर रहे थे उस समय वहाँ के अशिष्ट निवासियों का स्वभाव था कि वे उक्त प्रकार की साधु-वृत्ति वाले व्यक्तियों पर 'चुच्छु' बोल-बोल कर अपने-अपने कुत्तों को छोड़ देते थे और उन्हें बहुत तंग किया करते थे।[2] ऐसे लोगों को अपनी दुष्टता से विरत करने के लिए केवल दो ही मार्ग हो सकते थे जिनमें से एक था उन्हें शाप दे देना और दूसरा था उन्हें भीषण नरकादि के ज्ञान से भयभीत कराना।

डा० विंटरनित्स का कहना है कि उस युग के कई दशकों तक किसी प्रकार के भी साहित्य-निर्माण की चेष्टा नहीं हुई।[3] यह सत्य है कि पालि ग्रन्थों के बहुत से अंश स्वयं गौतम बुद्ध के ही मुख से निकले हुए वचन समझे जाते हैं तथा 'धम्मपद,' 'उदान', 'इतिवुत्तक' आदि में ऐसे 'बुद्ध वचन' संगृहीत भी हो सकते हैं। किंतु इसके साथ ही यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार उनकी अथवा अन्य किसी महापुरुष की भी रचनाएँ आज तक सुरक्षित हैं। इस सम्बंध में यह बात भी विचारणीय है कि गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश, उस समय, अपनी कोसलदेशीय बोली में ही दिये होंगे और उन्हें

---

1. B. C. Law : India as described etc., P. 233

२. आचारांग सूत्र (१-८-३-४)

3. M. Winternitz : A History of Indian Literature' Vol. II (University of Calcutta, 1933) PP. 2-3

उनके शिष्य और अनुयायी सुनकर कंठस्थ कर लेते होंगे। अतएव यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनकी जो बातें पीछे पालि ग्रन्थों में संगृहीत की गईं, वे अक्षरशः मूल रूप में रही होंगी। स्वयं पालि भाषा ही किसी क्षेत्र विशेष की बोली न होकर अनेक बोलियों का एक मिश्रित रूप प्रकट करती है। वह एक 'साहित्यिक भाषा' सी हो गई है, जिसके माध्यम से बौद्ध धर्म के विभिन्न विचारों और प्रसंगों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार जहाँ तक पता चलता है, महावीर स्वामी के मूल वचन भी जैन धर्म के प्रसिद्ध मान्य ग्रन्थ १४ पुब्वों (अर्थात् प्राचीन ग्रन्थों) में सुरक्षित हैं। किंतु कहा जाता है कि जो उपदेश स्वयं उन्होंने अपने शिष्य गणधरों को दिये थे वे पीछे लुप्त हो गए और उनके केवल एक मात्र शिष्य ने ही उन्हें किसी प्रकार बचा पाया था जिस कारण वे फिर छह पीढ़ियों तक ही लगभग उसी रूप में वर्तमान रहे।[1] इस प्रकार यह बात भी असंदिग्ध रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती कि अंत में, संगृहीत होने के समय तक उनके भी वचन ठीक अपने मूल रूप में ही रह गए होंगे। उक्त 'पूब्व' भी पहले केवल १० की ही संख्या में थे और उनमें ४ पीछे जोड़ दिये गए तथा उन्हीं के आधार पर नवीन अंगों और उपांगों की सृष्टि कर दी गई।

गौतम बुद्ध के आविर्भाव काल में आजकल जैसे साहित्यों की रचना की ओर कदाचित् कभी ध्यान ही नहीं दिया जाता था। जब कभी कोई धार्मिक आंदोलन आरंभ होता अथवा मतमतांतरों के बीच पारस्परिक वाद-विवाद छिड़ता अथवा कोई विचारक विशेष अपने निश्चित सिद्धांतों के प्रचारार्थ घूम-घूमकर सर्वसाधारण में उपदेश देना आरंभ करता, अधिकतर मौखिक बातों का ही प्रयोग किया जाता। ऐसे उपदेश वा प्रवचन यदि अधिक महत्वपूर्ण होते तो श्रोता

1. Do, p. 431

या शिष्य प्रायः कंठस्थ कर लेते और उन्हें यथावसर दोहरा दिया करते। उन्हें किसी व्यवस्थित रूप में लिपिबद्ध करने अथवा किसी क्रम के अनुसार संगृहीत रूप में लाने की कभी चेष्टा नहीं की जाती। कहते हैं कि ब्राह्मण धर्म के प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थों की भी पहले यही दशा थी और वे भी मौखिक रूप में ही कई शताब्दियों तक सुरक्षित चले आए थे। उनके भिन्न-भिन्न मंत्रों, पद्यों अथवा वाक्यों को उनके निर्माण-काल के बहुत पीछे क्रम दिये गए और उन्हें एकत्र वा संगृहीत भी किया गया। गौतम बुद्ध के आविर्भाव काल तक वे सभी ग्रन्थ भी, संभवतः, लिपिबद्ध नहीं किये जा सके थे, यद्यपि उनके अध्ययन-अध्यापन की परंपरा उसके बहुत पहले से ही प्रचलित थी। उनके आधार पर विविध मतों या संप्रदायों की स्थापना तक होती आ रही थी। ऐसे धर्म-ग्रन्थों की चर्चा बौद्ध एवं जैन धर्मों की अनेक उपलब्ध प्राचीन रचनाओं में पायी जाती है। इनमें दिये गए विवरण कहीं-कहीं किंचित् भिन्न प्रतीत होते हैं।

ब्राह्मण वा वैदिक धर्म तथा श्रमण धर्मों के सांप्रदायिक प्रचारकों के अतिरिक्त उन दिनों कुछ ऐसे व्यक्ति भी उपदेश देते फिरते थे जिन्हें 'कवि' कहा जाता था। ये लोग विभिन्न लोकगीत गाते फिरते अथवा उसी समय उपयुक्त पद्यों की रचना कर देते। इस प्रकार, अपने प्रवचनों द्वारा दर्शन के गूढ़ तत्वों तथा नैतिक आचरण की रहस्यमयी गुत्थियों का निम्न से निम्नस्तर के समाजों में भी, स्पष्टीकरण करते दीख पड़ते। कुछ इनसे भिन्न, किंतु इसी प्रकार का महत्वपूर्ण कार्य उन लोगों का भी कहा जा सकता है, जो ब्राह्मण जाति के होते थे और 'नख' वा 'मख' कहे जाते थे। इनका पूरा नाम 'नखपाषंड ब्राह्मण' रहा करता था और देहातों में भ्रमण करते हुए 'कर्मवाद' का उपदेश दिया करते थे। ये 'चरण' वा 'पटचित्र' लिये फिरते जो अधिकतर पाषाणों पर खुदे रहा करते और जिनमें स्वर्ग के सुखमय जीवन की झाँकी दी गई रहती। उस काल के बौद्धों

ने इसी कार्य के लिए 'धम्मकथिकों' की भी एक परंपरा प्रचलित की थी जो विशेषतः 'दान', 'सील' (शील) एवं 'सग्ग' (स्वर्ग) की शिक्षा देते फिरते थे। जैनियों ने, इस उद्देश्य से, जो व्यवस्था की थी उसके अनुसार उन्होंने 'नायधम्मकहा' नाम की एक पुस्तक भी रच दी। फिर भी, उन दिनों की परिस्थिति के अनुसार, ग्रन्थ-प्रणयन की किसी वैज्ञानिक पद्धति का प्रायः सर्वथा अभाव था। जिस प्रकार धार्मिक बातों में विशेषकर वाह्य क्रिया-कलाप एवं प्रदर्शन का बोलबाला था, उसी प्रकार साहित्यिक रचना-क्षेत्र में भी किसी सुव्यवस्थित कार्य-प्रणाली का आरंभ नहीं हो पाया था। गौतम बुद्ध एवं महावीर स्वामी के कारण इनमें महत्वपूर्ण सुधार हुए और इन्हें नवीन प्रेरणा भी मिली।

आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति

गौतम बुद्ध के आविर्भाव काल की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति का परिचय प्राप्त करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि उस समय उत्तरी भारत में किस प्रकार के लोग निवास करते थे। बौद्धों के "जातक" एवं "अवदान" ग्रन्थों तथा अन्य प्रकार के प्रासंगिक उल्लेखों से भी पता चलता है कि तथागत का पितृकुल शाक्य वंशीय था, जिस कारण उन्हें शाक्य मुनि अथवा शाक्यसिंह के नामों से भी पुकारते थे और "गौतम" शब्द उनके गोत्र का सूचक था। शाक्यों का उन दिनों एक अपना छोटा सा जनपद था जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। उस प्रदेश के निकट पूर्व एवं दक्षिण की ओर क्रमशः कोलियों तथा मल्लों के राज्य थे जिनके और भी आगे वृज्जियों, लिच्छवियों, मगधों, विदिशों तथा अंग वालों के देश थे। इसी प्रकार शाक्यों एवं मल्लों के पश्चिम काशी और कोसल वालों के राज्य थे जिनके दक्षिण चेदि लोग थे। इस क्षेत्र को "मध्य देश" भी कहा करते थे। मध्य देश के पश्चिम कुरु वंशियों, मत्स्यों, पांचालों एवं शूरसेनों के प्रदेश थे जिनके क्षेत्र को मनु ने "ब्रह्मर्षिदेश" का नाम दिया है। डा० लासेन का कहना है कि यदि कोई एक रेखा उत्तर की ओर हिमालय से लेकर दक्षिण की दिशा में प्रयाग से होती हुई, और भी आगे अमरकंटक तक खींच दी जाय तो पता चल सकता है कि इसके पूर्व का क्षेत्र उस समय "ब्रह्मर्षिदेश" से बाहर का समझा जाता था।

उस काल में केवल "ब्रह्मर्षिदेश" वालों के ही लिए कहा जा सकता था कि वे विशुद्ध आर्य-परंपरा के अनुगामी हैं। इसके पूर्व अथवा वाह्य प्रदेश वालों को कभी-कभी "व्रात्य" तक

कह दिया जाता था, जिसका मुख्य अभिप्राय, कदाचित्, यही था कि इन लोगों की सामाजिक व्यवस्था, विचारधारा तथा आचार-व्यवहार आर्य धर्म के ठीक अनुकूल नहीं पड़ते थे। परंतु, फिर भी ये लोग अपने को क्षत्रिय मानते थे। मल्ल एवं शाक्य वाले तो अपने को "ओक्काकु" (इक्ष्वाकुः) का वंशज भी कहा करते थे। इधर के लोगों में कुलाभिमान की भावना कूट-कूट कर भरी रहती थी और ये अपनी कन्याओं को दूसरे कुलों में देना पसंद नहीं करते थे। कहा तो यहाँ तक जाता है कि शाक्यों के पूर्वजों में कभी, इसी कारण, अपनी सगी बहन तक के साथ विवाह कर लेना अस्वीकृत नहीं था।[1] इस प्रकार ये लोग अपने को दूसरों से केवल पृथक् ही नहीं समझते थे, अपितु अधिक उच्चकोटि का भी मानते थे। ये वस्तुतः किसी ऐसे आदर्श वर्ग का प्रतिनिधित्व करते समझ पड़ते थे, जो किसी कुटुम्ब वा जाति से कहीं ऊँचा है। इसलिए डा० फिख का अनुमान है कि उनके लिए प्रयुक्त होने वाले पालि शब्द "खत्तिय" को हम साधारण "क्षत्रिय" शब्द का ठीक-ठीक पर्याय नहीं कह सकते। इसमें संभवतः उस "राजन्य" शब्द की भी भावना निहित है जो वैदिक युग के उन विजयी आर्य वीरों अथवा उनके वंशजों के लिए व्यवहृत होता था जिनके नेतृत्व में आर्यों ने गंगा नदी के तटवर्ती मैदानों में, सर्वप्रथम, अपना झंडा फहराया था और शासन किया था।[2]

इसमें संदेह नहीं कि गौतम बुद्ध के जन्म-काल में, आर्यों के चातुर्वर्ण्य की भावना प्रबल रूप में प्रतिष्ठित थी। यह उनके जीवन-

---

1. Dr. B. C. Law : Tribes in Ancient India (Poona, 1943) Page 245-6.
2. Richard Fick : The Social Organisation in North East India in Buddha's Time (University of Calcutta, 1920) pp. 79-80,

काल में बनी रही और इसका प्रभाव, उनके द्वारा प्रचलित किये गए सिद्धांतों के रहते हुए भी, बहुत कम न किया जा सका। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों को देखने से केवल इतना ही पता चलता है कि इसके प्रति उनके अनुयायियों की दृष्टि ठीक वही न थी जो दूसरे लोगों की थी। उदाहरण के लिए "वर्ण" शब्द से जो आशय पहले "जाति" का लिया जाता था, वह प्रायः "कुल" का लिया जाने लगा। इस प्रकार शाक्यों आदि के समाज में जो विशेष महत्व "खत्तिय" कहे जाने वालों को दिया जाता था वह साधारण क्षत्रियों के लिए भी स्वीकार कर लिया गया। इसी कारण "खत्तिय कुलम्" को "ब्राह्मण कुलम्" की अपेक्षा अधिक गौरव प्रदान किया जाने लगा। इसी बात को "ललित विस्तर" जैसे बौद्ध ग्रन्थों ने इस प्रकार भी कहा है कि बोधि-सत्व का जन्म केवल ब्राह्मणों अथवा क्षत्रिय कुल में ही हुआ है, जिस युग में ब्राह्मणों को विशेष महत्व दिया जाता था, उसमें वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे, अन्यथा वे क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेते आये। क्षत्रिय कुल के लोगों को उन दिनों न केवल शस्त्र-विद्या की शिक्षा दी जाती थी, अपितु उन्हें शास्त्रों में भी पूर्ण निष्णात होना पड़ता था। एक ओर जहाँ वे शासन-कार्य में अभ्यस्त होना आवश्यक समझते थे, वहाँ दूसरी ओर वे अध्यात्म चिंतन में भी समय देते थे। प्रसिद्धि तो यहाँ तक है कि उपनिषदों के रचना-काल से लेकर बहुत पीछे तक ब्रह्मर्षिदेश के ब्राह्मण इन क्षत्रियों के निकट आध्यात्मिक विद्या की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए आया करते थे और यहाँ से प्रायः संतुष्ट होकर वापस जाते थे।

बौद्धों एवं जैनियों के प्राचीन ग्रन्थों में सभी ब्राह्मणों को भी केवल एक ही कोटि का नहीं समझा गया है। इनके स्पष्टतः दो भिन्न-भिन्न वर्ग कर दिये गये हैं जिनमें से प्रथम को वास्तविक आदर्श ब्राह्मण कह सकते हैं और दूसरे को 'संसारी' नाम दे सकते हैं। आदर्श ब्राह्मणों की कोटि में आने वाले वे लोग समझे जाते थे जो

वस्तुतः शास्त्रीय ढंग से शिक्षित होते थे और जो सदाचारी भी रहा करते थे। परंतु वे लोग जो केवल किसी ब्राह्मण कुल में जन्म तक ही लिये रहते थे, किन्तु जो सर्व साधारण से अधिक भिन्न भी न थे, 'संसारी' ब्राह्मण होते थे। आदर्श ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा नरेशों के यहाँ उनके धार्मिक कृत्यों के अवसरों पर हुआ करती थीं और वे पुरोहित भी माने जाते थे। गौतम बुद्ध के आविर्भाव-काल में यज्ञादि के अनुष्ठानों की कमी नहीं थी और ऐसे समय लोग उनका सदा नेतृत्व किया करते थे। इसके सिवाय उन दिनों का विवरण देने वाले ग्रन्थों से भी यह पता चलता है कि ये लोग ज्योतिषियों के रूप में शुभाशुभ कथन किया करते थे। मंत्र जाल के प्रयोग करते थे, टोटकों एवं विविधि प्रकार के उपचारों में कुशल समझे जाते थे और कई बातों में परामर्श भी देते रहते थे। किन्तु संसारी समझे जाने वाले ब्राह्मण अपनी व्यक्तिगत जीविकाओं में लगे रहते थे और उन्हें कभी कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता था। ऐसे ब्राह्मण प्रायः कृषि एवं पशु-पालन में निरत रहते थे जो कुछ अंशों तक ब्रह्मर्षिदेश तक की ओर भी स्वीकृत था। परंतु इधर के लोग अपने हाथ से हल भी चला लेते थे तथा अपने आप बाजारों में जाकर अन्नादि का क्रय-विक्रय किया करते थे। इन लोगों के लिए यह भी कहा गया है कि ये लोग कभी-कभी बढ़ई का काम करते थे और बहेलियों तक की जीविका को स्वीकार कर लिया करते थे। इसीलिए ऐसे ब्राह्मणों की, अपने समाज में, अधिक प्रतिष्ठा नहीं थी और इन लोगों के ही कारण, सारे ब्राह्मण वर्ग की भी निन्दा कर दी जाती थी। अतएव ब्राह्मणों को कभी-कभी अपने आपको आदर्श सिद्ध करने में बतलाना पड़ता था कि हम यहाँ के न होकर मूलतः पश्चिमोत्तर प्रदेशों के निवासी हैं और इस दृष्टि से इनका एक 'उदीच्य' ब्राह्मणों का पृथक् उपवर्ग ही बन गया था।

चातुर्वर्ण्य के तीसरे वर्ग को अधिकतर वैश्य का नाम दिया जाता

है और बौद्ध ग्रन्थों में इसे 'वेस्स वा गहपति' भी कहा गया है। 'गहपति' शब्द गृहपति के लिए आया है, जिसके अनुसार कहा जा सकता है कि इस वर्ग के लोगों की प्रमुख पहचान उनके अपने गृहों में रह कर प्रबंध करने, जीविका चलाने, अथवा दूसरे शब्दों, में व्यवहार निरत रहने में ही पायी जा सकती थी। ये लोग भी कृषि-कर्म और पशु-पालन किया करते थे, किन्तु इनकी विशेषता इनके वाणिज्य व्यवसाय एवं धनवृद्धि में ही देखी जाती थी। ये लोग, इसीलिए बराबर कोषाध्यक्ष एवं बैंकर हुआ करते थे और इनके कार्य का विशेष महत्व केवल आर्थिक दृष्टि से ही था। किन्तु, इसी कारण, ये अपने को सर्व साधारण से कहीं अधिक ऊँचे स्थान का अधिकारी भी समझा करते थे, जिससे इनको "श्रेष्ठि" भी कहा करते थे। पता चलता है कि उन दिनों इनके वाणिज्य का विस्तार सुदूर देशों तक था, जहाँ वे पोतों द्वारा भारतीय वस्तुओं को पहुँचा कर वहाँ इनका विक्रय करते थे तथा वहाँ से विभिन्न वस्तुएँ क्रय करके लाया भी करते थे। समाज में इनकी प्रतिष्ठा कम नहीं थी। इसी कारण, ये भी अपने को प्रायः उसी प्रकार कुलीन मानने का दम भरते, जिस प्रकार खत्तियों अथवा ब्राह्मणों के यहाँ चलन थी। ये लोग अपना वैवाहिक सम्बंध भरसक अपने वर्गवालों में ही करना चाहते थे, रक्त-शुद्धि को सुरक्षित रखने की ओर प्रयत्नशील रहते तथा अपने कुल क्रमागत आचार-व्यवहार के विपरीत जाना पसंद नहीं करते, जिस प्रकार खत्तियों एवं ब्राह्मण किया करते थे। इनका व्यवसाय विशेषकर नगरों में हुआ करता था, जहाँ "आपण" वा दूकानें रहा करती थीं और जहाँ 'अंतरापणों" में अधिक वस्तुएँ सुरक्षित भी कर दी जाती थीं।

शूद्रों का वस्तुतः कोई पृथक् वर्ग नहीं था, न कोई वैसा संगठन ही वर्तमान था। इनमें अधिकतर उन सभी लोगों की गणना कर दी जाती थी जो पहले बतलाये गए तीनों वर्गों से भिन्न श्रेणी के थे। ये लोग या तो सेवावृत्ति अथवा नौकरी किया करते थे

अथवा उन तीनों वर्गों में से किसी न किसी के कार्य में सहायता देने की दृष्टि से श्रमिक जीवन स्वीकार कर लेते थे। इनकी न तो खत्तियों की जैसी कोई कुल-परंपरा थी, जिसके कारण इन्हें समाज में विशेष महत्व दिया जाता, न इनका कोई सम्बंध उन धार्मिक कृत्यों के साथ रहा करता जिनके विशेषज्ञ होने के कारण ब्राह्मण वर्ग प्रतिष्ठा का पात्र था और न इनके पास कोई वैसा संपत्तिजन्य साधन ही रहा करता था, जिसके बल पर इन्हें कोई प्रधानता दी जाती। इसके सिवाय उनमें बहुत से लोग ऐसे भी थे जिनके कार्य को प्रायः निन्दनीय ठहराया जाता और जो इसी कारण, कभी-कभी अस्पृश्य तक मान लिये जाते। ऐसे लोगों में चांडाल, पुक्कुसों, निषादों, आदि की गणना की जाती थी और ये ग्रामों के बाहर बसाये जाते थे। शूद्र तथा चांडालादि कहे जाने वाले लोग अपनी व्यक्तिगत जीविका भी कर लेते थे, किन्तु उनका कोई सामाजिक महत्व नहीं था। बौद्ध जातकों तथा उस प्रकार के अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी ऐसे लोगों की चर्चा प्रचुर मात्रा में की गई मिलती है, जिससे पता चलता है कि, यद्यपि बौद्ध धर्म के अनुसार, किसी प्रकार के वर्ग वैषम्य को प्रोत्साहन देना उचित नहीं समझा जाता था। फिर भी उस समय की सामाजिक परिस्थिति पर ध्यान रखते हुए, इसके प्रत्यक्ष अस्तित्व को कभी भुलाया नहीं जा सकता था।

गौतम बुद्ध का आविर्भाव-काल एक ऐसा युग था जबकि, आर्थिक जीवन की दृष्टि से, कई महत्वपूर्ण बातें देखने में आयीं। इस काल में भारत के विभिन्न दक्षिणी प्रदेशों तथा कई एक बाहरी देशों का भी उत्तरी भारत के साथ संपर्क स्थापित हुआ, नये नगरों का निर्माण हुआ तथा विशेषकर नागरिक जीवन की ओर प्रवृत्ति बढ़ी और इसके साथ ही सामूहिक व्यवसाय प्रणाली का विकास भी आरंभ हुआ। नगर उन दिनों प्रायः दीवारों से घिरे होते थे और उनमें राजाओं के महल, व्यवसायियों के घर तथा सर्वसाधारण के मकान भी रहा रतेक

थे। इनमें से अधिकांश लकड़ी के बने होते थे। राजप्रासादों का निर्माण पत्थर से किया गया रहता था और ईंटों के भी बने मकानों की कमी नहीं रहती थी। निर्धन परिवारों के घरों का कभी-कभी छप्परों से बना होना भी लिखा मिलता है। कुछ जैन ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि वणियग्राम अर्थात् वैशाली नगर में वहाँ के ब्राह्मण निवासी तथा क्षत्रिय नागरिक विभिन्न मुहल्लों में पृथक्-पृथक् रहा करते थे और चांडाल तथा पुक्कुस बाहर रहते थे। बड़े-बड़े नगरों के बीच एक दूसरे तक जाने-आने के लिए वाणिज्य मार्ग बनाये गए थे। उदाहरण के लिए श्रावस्ती से लेकर प्रतिष्ठान तक उत्तर से दक्षिण की ओर एक सुदीर्घ मार्ग था, जिसके बीच-बीच में ठहरने के स्थान भी थे। उत्तर से दक्षिण पूर्व की ओर श्रावस्ती से राजगृह तक एक मार्ग था, जिसमें पहाड़ियों की तलहटियों से होकर घूमते हुए आने की व्यवस्था थी। बीच-बीच में नदियों के पार करने का भी प्रबंध था तथा पूर्व पश्चिम आने-जाने के ऐसे मार्ग नदियों से होकर भी जारी किये गए थे। जातकों में समुद्री मार्गों और बन्दर-गाहों की भी चर्चा आती है।

ग्राम प्रायः दो प्रकार के हुआ करते थे, जिनमें से अधिकतर किसान रहते थे और दूसरों में उद्योग-धंधों वाले रहा करते थे। कहीं-कहीं तो कतिपय ऐसे ग्रामों का भी पता चलता है जिनमें केवल एक ही वर्णों के लोग, जैसे ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ही रहा करते थे। परंतु सधारणतः यही परंपरा प्रचलित थी कि प्रत्येक ग्राम में प्रायः सभी प्रकार के लोग रहा करें। इसके अतिरिक्त अधिकतर यह भी देखा जाता था कि खेतिहर लोग छोटे-छोटे ग्रामों में रहा करते हैं, किन्तु उद्योग-धंधों के लोग बड़े-बड़े नगरों की ओर बढ़ते जा रहे हैं। ग्रामों की बस्तियों के चारों ओर खेतिहरों के खेत रहते थे, जिन्हें वे लोग जोतते-बोते रहते थे। किन्तु इनको दूसरे को हस्तांतरित करना वे बहुत कम पसंद करते थे। लगान खेतों में उपजे हुए अनाज के

ही किसी न किसी अंश में, देने की प्रथा थी और इसे वसूल करके सरकारी धान्यागारों में रख दिया जाता था। प्रत्येक ग्राम वाले आपस में मिलकर कुएँ खोद लिया करते थे और आवश्यकतानुसार कभी-कभी बाँधों का भी निर्माण कर लिया करते थे। ग्रामों में चंदा करके सार्वजनिक मंदिर अथवा अन्य ऐसे स्थानों के बना लिया करने की व्यवस्था हो जाती थी और वृद्ध जन इनके प्रबंधक रहा करते थे। "गहपति जातक" से यह भी पता चलता है कि आवश्यकता पड़ने पर कभी-कभी पूरे ग्राम की ओर से सामूहिक ऋण भी ले लिया जाता था।[1]

ग्रामों में खेतिहरी वा किसानी का काम अधिक लोकप्रिय दीख पड़ता था, किन्तु कई एक उद्योग-धंधे भी ऐसे थे जिनका विशेष प्रचार था। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध कपड़े बुनने, सुई-कढ़ाई करने तथा कम्बल तैयार करने के व्यवसाय थे जो प्रायः नगरों में भी प्रचलित थे। ऊन, कपास तथा रेशम इन तीनों ही प्रकार के कपड़े बुने जाते थे और बौद्ध भिक्खुओं के चीवरों की तैयारी के लिए पीछे पृथक् प्रबंध भी होने लगा था। थेरीगाथा से पता चलता है कि महीन रेशम के कपड़ों के लिए उन दिनों बनारस अधिक प्रसिद्ध था।[2] दूसरे व्यवसायों में लुहारों का काम, बढ़ईगिरी, राजगिरी, सुनारी आदि ऐसे थे जो विशेष प्रचलित थे। मिट्टी के बर्तन बनाने वालों तथा हलवाई आदि की भी कमी नहीं थी। ऐसे व्यवसायी अपने-अपने स्थानों पर रह कर काम करते थे, किन्तु उनके बीच कभी-कभी पारस्परिक संगठन भी दीख पड़ता था। इनके कई गणों

---

1. Dr. Narayan Chandra Bandyopadhyaya : Economic Life & Progress in Ancient India' (University of Calcutta, 1945), 235.

2. Do. Page 242.

वा संघों की चर्चा बहुत से जातकों में की गई मिलती है, किन्तु, वास्तव में, इनका विकास प्राचीन वेदों तक के समय से होता चला आया था। इन व्यवसायों के कारण समाज में विभिन्न प्रकार के लोगों के संगठन हो गये थे, किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ जीविकाएँ भी थीं जो कम महत्व की न थी। ऐसी जीविकाओं में प्रमुख वे थीं जो वैद्यक, ज्योतिष, शिक्षण-कार्य आदि से सम्बंध रखती थीं और अन्य वे थीं जो नाई, रसोइया, धोबी, साईस, हाथीवान, माली, मलाह, कसाई, रथवाह, गणिका आदि की थी जो कुछ निम्नस्तर की समझी जाती थीं। जीविकाएँ अधिकतर कुल-क्रमागत समझी जाती थीं और इन्हें छोड़ने का प्रयत्न बहुत कम किया जा सकता था।

इस प्रकार गौतम बुद्ध के आविर्भाव-काल में सामाजिक परिस्थिति एवं आर्थिक परिस्थिति में भी रूढ़िवादिता कम नहीं थी। वर्ण-व्यवस्था का पूरा प्रचार था, किन्तु, कुलाभिमान की मात्रा अधिक हो जाने से, "खत्तिय" वर्ग के लोग अपने को स्तर विशेष का माना करते थे। यह प्रवृत्ति प्रायः सेट्ठियों में भी पायी जाती थीं और कुल-क्रमागत बातों को विशेष महत्व, बहुत से व्यवसायों तथा जीविकाओं में भी दिया जाता था। गौतम बुद्ध ने ऐसी बातों की व्यर्थता की ओर लोगों का ध्यान अवश्य दिलाया और इस ओर न्यूनाधिक सुधार भी हुए। किन्तु उनका प्रमुख उद्देश्य आध्यात्मिक होने के कारण, ऐसी बातों में यथेष्ट परिवर्तन नहीं लाया जा सका। उनकी कर्मवाद एवं जन्मांतर सम्बंधी धारणाओं का आश्रय पाकर इनके बहुत से अंगों के स्वाभाविक विकास में ही सहायता मिली।

जातकों में सामाजिक जीवन का चित्रण

बौद्ध जातकों की कथाओं में हमें प्राचीन भारत के सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का एक जीता-जागता चित्र देखने को मिलता है। कहने को तो ये रचनाएँ केवल भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की ही घटनाओं के विवरण प्रस्तुत करती हैं किन्तु, इसमें संदेह नहीं कि इसी व्याज से हमें इनमें उस समय के भी लोगों की एक झाँकी मिल जाती है, जब इनकी पद्यमयी गाथाओं का पहले-पहल निर्माण हुआ होगा। इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय जीवन सम्बंधी जो दृश्य ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में अंकित किये गए, अथवा जो साँची, भरहुत और अमरावती वाले चित्रों में दीख पड़ते हैं, उनके बीजरूप का पता हमें इन गाथाओं में अवश्य लग जाता है। यह असंभव नहीं कि इन जातकों का गद्यमयी अट्ठकथा वाला अंश ईसवी सन् के पीछे वाली पाँचवीं शताब्दी की रचना ठहर जाए। किन्तु फिर भी इतना स्पष्ट है कि उसमें भी तत्वतः उन गाथाओं के ही ठीक-ठीक अनुसरण का प्रयत्न किया गया होगा। इन जातकों में हमें न केवल भारतीय समाज के तत्कालीन संगठन का ही संकेत उपलब्ध होता है, अपितु इनके अंतर्गत हमें, उसके आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं से लेकर उसकी साधारण से साधारण बातों तक का भी प्रत्यक्ष चित्रण पूरे विवरण के साथ किया गया मिल जाता है। इनमें कम से कम पूर्वोत्तर भारत का जो प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास उपलब्ध हो सकता है वह, कई दृष्टियों से सर्वथा रोचक और सजीव होगा।

जातकों के अध्ययन से पता चलता है कि इनके रचना-काल वाले युग में यहाँ वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण प्राधान्य रहा।

ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के पृथक्-पृथक् वर्ग, भगवान् बुद्ध देव का आविर्भाव होने के पहले से ही वर्तमान थे। ये फिर उनके बहुत पीछे तक प्रायः वैसे ही बने रह गए—उनमें केवल थोड़ा ही परिवर्तन लाया जा सका। इन चारों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग चांडालों, पुक्कसों आदि का भी था जो इनके सीधे संपर्क से सदा दूर ही रहता आया, किन्तु जिसका कुछ अपना ही महत्व था। इन सभी वर्गों को उन दिनों अधिकतर 'जाति' को संज्ञा दी जाती थी और कभी-कभी इन्हें 'वरण' अथवा 'कुल' भी कह दिया जाता था।[1] इनमें संमिलित किये जाने वाले व्यक्तियों का वर्गीकरण साधारणतः इस आधार पर किया जाता था कि किस वंश में उन्होंने जन्म ग्रहण किया है। परंतु, ऐसा करते समय, सदा उनकी जीविका के प्रति भी ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं समझा जाता था। जातकों को पढ़ते समय हमें ऐसा लगता है कि उनके रचना-काल तक, 'चातुर्वर्ण्य' वा 'गुणकर्म' के अनुसार किया गया प्रारंभिक विभाजन बहुत कुछ पुराना पड़ चुका था। प्रत्येक जाति की कुछ न कुछ अपनी विशेषताएँ अवश्य रह गई थीं। किन्तु वह उनकी रक्षा के प्रति उतनी दृढ़ नहीं रहा करती थी, उसका विशेष ध्यान अपनी रक्त-शुद्धि की ही ओर रहता था। यद्यपि इस बात में हमें यहाँ प्रायः शिथिलता ही देखने को मिलती है।

वैवाहिक सम्बंध के विषय में यह एक साधारण सा नियम बन गया था कि उसका, अपने सजातियों में स्थापित होना ठीक है। जातकों में हम इसका पालन, प्रायः प्रत्येक स्थल पर इसी के अनुसार होता हुआ देखते हैं। एक पिता को अपने पुत्र के प्रति स्पष्ट शब्दों

---

1. Richard fick : The Social Organisation in North East India (University of Calcutta, 1920) P. 34 (footnote)

में कहते हुए पाते हैं कि "समजातिक कुल कुमारिक गण्ह"[1] अर्थात् समान जाति वा कुल की ही कुमारी के साथ विवाह करो। इन बातों में माता-पिता अपनी संतानों की किसी विशिष्ट प्रवृत्ति की ओर ध्यान देते नहीं जान पड़ते। इसमें उन्हें, कदाचित् इस बात का भय बना रहता है कि यदि विवाह कहीं बे-मेल हो गया तो, उसके परिणाम स्वरूप वैसी ही संतान उत्पन्न होगी जैसा, "बिनीलक जातक" वाले हंसराज द्वारा कौवी के साथ सहवास किये जाने पर, निरा अयोग्य बच्चा पैदा हो गया था और उसे, अंत में, अपने यहाँ से हटा देना भी पड़ा था।[2] फिर भी विवाह का होना भिन्न गोत्रियों में ही उत्तम समझा जाता था, समान गोत्रियों में नहीं, जैसा "कच्छप जातक" वाले उदाहरण में भी स्पष्ट किया गया है।[3] इसी प्रकार विवाह के लिए कन्याओं की उचित अवस्था २० से ले कर ३० वर्षों तक की भी मान ली जाती थी और इस दशा में उन्हें अपने लिए योग्य वर ढूँढ़ लेने की प्रायः छूट भी दे दी जाती थी, जैसा "अम्ब जातक" में कहे गए कतिपय वचनों द्वारा भी ध्वनित होता है।[3] परंतु इसमें कन्याओं के कारण, वरों को कभी-कभी धोखा भी हो जा सकता था, जैसा "कुक्कुट जातक" वाले कुक्कुट को, बिल्ली के कारण, संभव हो गया।[4] "उदय जातक" वाले उदाहरण से तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन दिनों कदाचित्, कोई कन्या विक्रय की भी प्रथा रही होगी।[5] इस बात की पुष्टि "संकिकच्च जातक" से भी होती जान पड़ती है जहाँ भार्या के लिए "धनक्कीता" शब्द का विशेषण दिया गया है।[6] जातकों में हमें इस बात का पता नहीं

1. Do (quoted at p 52)

२. जातक सं० १६० (साहित्य सम्मेलन प्रयाग)।

३. वही, सं० २७३। ४. वही, सं० ३४४। ५. वही, सं० ३८३।

६. वही, सं० ४५८।

चल पाता कि वैवाहिक विधियों का अनुष्ठान कभी पुरोहितों के माध्यम से पूरा किया जाता था। यहाँ पर ऐसे ही उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें पारस्परिक प्रेम-भाव रखने वाले कन्या-वर अपना सम्बंध किसी श्मशान क्षेत्र तक में भी अनुष्ठित कर लिया करते हैं।[१]

"कट्ठहारि जातक" से पता चलता है कि ब्रह्मदत्त राजा ने किसी समय उद्यान में लकड़ी चुनती हुई किसी कन्या पर आसक्त हो उसके साथ सहवास किया तथा फिर उसके गर्भ से उत्पन्न बालक को उप-राजा तथा उसकी माँ को पटरानी बनाया। एक अन्य 'सुजाता' नामक जातक से भी प्रकट होता है कि राजा ने किसी बेर बेंचनेवाली माली की लड़की को ही अपनी पटरानी बना लिया था।[२] वास्तव में राजाओं के लिए इस प्रकार का प्रथा-विरुद्ध व्यवहार करना उन दिनों अनुचित नहीं समझा जाता था और उनके ऐसे कार्य प्रायः अपवाद स्वरूप भी मान लिये जाते थे। राजा लोग, अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करके, उनमें से जिन्हें भी चाहें, झट त्याग दिया करते थे और यह केवल उनकी इच्छा पर ही निर्भर रहता था। परंतु विवाहिता पत्नी को सदोष पाकर अथवा, उससे किसी कारण रुष्ट होकर, उसका परित्याग कर देना कदाचित् औरों के लिए भी संभव था। "रुहक जातक" वाले ब्राह्मण ने अपने साथ निंद्य परि-हास करनेवाली ब्राह्मणी को घर से पीट कर निकाल दिया और वह दूसरी पत्नी भी ले आया।[१०] "कुस" नामक एक दूसरे लंबे जातक-वाली कथा से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पुत्र न होने की दशा में, उन दिनों नियोग द्वारा इस अभाव की पूर्ति कर ली जाती थी। इसके लिए बड़े-बड़े राजाओं तक को अपनी पटरानी "धर्मनटी" के रूप में, दूसरों के हाथ दे देनी पड़ती थी। सबसे उल्लेख-

---

१. वही, सं० ५३०। २. वही, सं० १२६ (अभिलक्खण जातक)।
३. वही, सं० ७। ४. वही, सं० ३०६। ५. वही, सं० १९१।

नीय बात तो यह है कि राजा अपनी पटरानी को सर्वसाधारण के सुपुर्द कर देता था। वह इस प्रकार चाहे जिस किसी के भी साथ सहवास करके, उसके द्वारा संतान उत्पन्न करा लेती थी और यदि पुत्र होता था तो वही राजकुमार भी कहला सकता था।[1]

जातकों वाले भारतीय समाज में, एक ओर जहाँ वैवाहिक सम्बंध जोड़ते समय, रक्त-शुद्धि की ओर ध्यान दिया जाता है वहाँ दूसरी ओर सहभोज के अवसरों पर एवं भोज्य पदार्थों का स्पर्श करते समय भी, कुलीनता एवं पवित्रता का विचार कर लिया जाता है। 'भद्दसाल जातक' से पता चलता है कि महानाम संज्ञक एक क्षत्रिय ने स्वयं अपनी पुत्री के साथ भी भोज नहीं किया, क्योंकि वह उसकी अवैध संतान थी और इस बात को छिपाने के लिए उसे युक्तियों का आश्रय लेना पड़ा।[2] अपवित्र हाथों द्वारा स्पृष्ट भोजन का ग्रहण करना अथवा अकुलीन के हाथ का खाना लगभग उतना ही निषिद्ध था जितना उच्छिष्ट भोजन का खा लेना और दोनों ही दंडनीय भी थे। फिर भी हम देखते हैं कि 'मातंग जातक' वाले बड़े भोज के अवसर पर जो ब्राह्मण एक चांडाल को उच्छिष्ट भोजन तक नहीं देना चाहता उसे, फिर उसी चांडाल के यहाँ और प्रायः उसी प्रकार का भोजन दंड स्वरूप ग्रहण करना पड़ता है[3]। 'सतधम्म' नामक जातक में इस प्रकार की भी कथा आती है कि माणवक ब्राह्मण ने पहले एक चांडाल का भात खाने से इनकार कर दिया। किन्तु जब उसे क्षुधा ने सताया और उससे नहीं रह गया तो उसने उस चांडाल का जूठा भात तक खा लिया जिसके प्रायश्चित स्वरूप उसे (माणवक को) छिप रह कर अनाथवत् मरना पड़ा।[4] परंतु 'विधुर पंडित'

---

१. वही, सं०५३१। २. वही, सं० ४६५।
३. वही, सं० ४९७। ४. वही, सं० १७९।

जातक वाले विधुर के लिए कहा गया है कि उसने एक सार्वजनिक भोज के अवसर पर सभी वर्णों का छुआ भात खा लिया।[१]

भात उन दिनों एक सामान्य भोज्य पदार्थ था जिसे सर्व साधारण 'यागु' अथवा 'यवागु' (मांड़) के साथ खा लिया करते थे। किन्तु जिसे खाते समय, धनी-मानी व्यक्ति को मांस का भी उपयोग करना पड़ता था। मांस भोजन उस युग में कदाचित् ब्राह्मणों के लिए भी निषिद्ध नहीं समझा जाता था। इस वर्ग के लोग बहुधा बहेलिए तथा मांस-विक्रेता तक की जीवका भी करते थे। 'तेलोवाद जातक' वाली कथा में तो एक तपस्वी ने मत्स्य मांस खा कर बतलाया है कि बुद्धिमान् मांस भोजी को हिंसा जन्य पाप नहीं लगता।[२] मांस पकाने के सम्बंध में चर्चा करते समय गोध अथवा गोह का नाम, कदाचित् सबसे अधिक लिया गया है। जान पड़ता है कि इस जीव का मांस कुछ अधिक स्वादिष्ट हुआ करता था, क्योंकि कहीं तो हम देखते हैं कि एक तपस्वी तक उसे मार कर पकाने के उद्योग में लीन है।[३] अन्यत्र ऐसा भी पाते हैं कि, इसके पके मांस की ओर आकृष्ट होकर एक राजकुमार तक उसे चुपके-चुपके खा लेता है।[४] इसी प्रकार सूअर के लिए भी कहा गया मिलता है कि उसे यवागु और भात खिला-खिला कर इसलिए पोसा गया था कि उसका मांस एक राजकुमारी के विवाहोत्सव पर जलपान का काम देगा और अंत में, ऐसा ही हुआ भी था।[५] 'चुल्लपदुम जातक' में मांस के सम्बंध में यहाँ तक संकेत मिलता है कि एक बार, भूख की वेदना न सह सकने के कारण, सात राजकुमारों ने एक-एक करके क्रमशः अपने छह भाइयों की पत्नियों को मार कर खा डाला और केवल सातवें की पत्नी ने किसी प्रकार भाग कर जान बचायी।[६] ऐसा ही एक अन्य प्रसंग

---

१. वही, सं० ५४५। २. वही, सं० २४६। ३. जातक सं० ३२५।
४. वही, सं० ३३३। ५. वही, सं० २८६। ६. वही, सं० १९३।

'महासुत सोम जातक' में भी आता है, जहाँ एक राजा को मनुष्य का मांस खाने की चाट पड़ गई थी।[1] यह निश्चय ही एक अत्यंत विलक्षण सी बात है, किन्तु जातकों में इस प्रकार का वर्णन, बहुत स्पष्ट एवं असंदिग्ध शब्दों में किया गया मिलता है।

जातकों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का भी पता चलता है कि उन दिनों के लोगों में कई व्यसन भी प्रचलित थे, जैसे वेश्या-प्रसंग की लत, सेठ पुत्रों, कर्मचारियों तथा पुरोहितों तक में भी देखने को मिलती थी। 'उद्दालक जातक' वाला पुरोहित उद्यान क्रीड़ा के लिए गई हुई गणिका पर आसक्त होकर उसके साथ भोग करता है और फिर उसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र का नाम रखने के फेर में पड़ जाता है।[2] इसी प्रकार 'कणवेर जातक' वाली श्यामा वेश्या नगर कोतवाल पर प्रभाव डाल कर उसे अपना स्वामी बना लेती है।[3] और वाराणसी की एक दूसरी वेश्या सेठ पुत्र के हज़ार न देने पर उसे गर्दन पकड़ कर निकलवा देती हुई दीख पड़ती है।[4] वास्तव में उन दिनों की अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियों के भी ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनसे उस काल के नैतिक आचरण पर प्रकाश पड़ता है। 'सुसीम जातक' की राजमाता तक अपने पुरोहित पर आसक्त हो जाती है और वह उसे अपनाने के फेर में पड़ कर अस्वस्थ बन जाती है। अतएव, मातृभक्त राजा को, उसे संतुष्ट करने के लिए, पुरोहित को राज सिंहासन पर बिठा तथा उसे उसकी पटरानी बना कर, स्वयं उपराजा बनना पड़ जाता है।[5] इसके सिवाय एक अन्य जातक में हमें यह भी दीख पड़ता है कि उसका राजा अपनी रानी को, अमात्य के साथ सहवास कर लेने पर भी, कोई दंड नहीं देता

---

१. वही, सं० ५३७। २. वही, सं० ४८७ ३, वही, सं० ३१८।
४. वही, सं० ४२५। ५. वही, सं० ४११।

प्रत्युत वह उस अमात्य को भी क्षमा ही कर देता है।[1] 'बन्धन मोक्ख जातक' वाले राजा की रानी तो उसे धोखा देकर क्रमशः चौसठ व्यक्तियों के साथ सहवास करती है।[2] एक ब्राह्मण की पत्नी अपने पतिदेव को जाट का जूठा भात खिला देती है।[3] और 'समुग्ग जातक' वाली एक स्त्री राक्षस की कोख में कैद रहती हुई, पर-पुरुष के साथ भोग कर लेती है।[4] एक सौतेली माँ के भी इसी प्रकार अपने पुत्र के प्रति रमणेच्छा का प्रस्ताव करना तथा उसकी अस्वीकृति पर उसे मरवा डालने की चेष्टा भी करना एक जातक में आता है।[5] बौद्ध जातकों में न केवल स्त्रियों की ऐसी चारित्रिक निर्बलता के ही दृष्टांत मिलते हैं, अपितु 'अनभिरत जातक' वाली कथा में एक शिष्य द्वारा उनके दुराचार की शिकायत किये जाने पर उसके प्रति आचार्य का ऐसा कथन भी पाया जाता है कि :

"यथा नदी च पन्थो च, पाणागारं सभा पपा।
एवं लोकित्थियो नाम, नासं कुज्झन्ति पण्डिता।"[6]

अर्थात् जैसे नदी, महामार्ग, मदिरालय, धर्म-शालाएँ तथा प्याऊ सब किसी के लिए होते हैं वैसे ही लोक में स्त्रियाँ भी है, अतः पंडित उन पर क्रोध नहीं करते।

जातकों में व्यभिचार के अतिरिक्त सुरापान जैसे कुछ अन्य व्यसनों के भी उदाहरण देखने को मिलते हैं। सुरापान की एक चर्चा 'सुरापान जातक' में ही आती है जहाँ एक राजा ने, मदिरा जैसे उत्तम पेय को तपस्वियों के लिए अलभ्य समझ कर, इसे उन्हें प्रेम से पिलाया है।[7] इसके सिवाय कहीं-कहीं पर ऐसे प्रसंग भी दीख

---

१. जातक सं० १९५, पब्बत् पत्थर जातक।
२. वही, सं० १२०। ३. वही, सं० २१२, उच्छिट्ठभत्त जातक
४. वही, सं० ४३६। ५. वही, संख्या ४७२, महापदुम जातक।
६. वही, सं० ६५। ७. वही, सं० ८१।

पड़ते हैं जहाँ युद्ध में विजय पाने पर 'सुरा नक्खत्त' नामक सार्वजनिक उत्सव मनाया गया है। इसी प्रकार एक दूसरा भी व्यसन जो उन दिनों के लोगों में बहुत प्रचलित था वह जुए के खेल का था। 'विधुर पंडित जातक' वाली कथा में आता है कि द्यूत के व्यसन वाले धनंजय कोरव्य के लिए यह उसकी एक बहुत बड़ी कमज़ोरी का कारण बन गया था। इस व्यसन की अन्यत्र जहाँ कहीं भी कोई चर्चा आयी है वहाँ पर इसे पूर्ण रूप से हानिकर सिद्ध करने की ही चेष्टा की गई है।[२] जातकों में हमें उन दिनों के कतिपय लोग चोरी के लिए सेंध मारते फिरते अथवा दल बाँध कर डकैती करते हुए भी जान पड़ते हैं। 'कणवेर जातक' से पता चलता है कि ऐसे लोग प्रायः नगर की वेश्याओं के साथ भी संपर्क रखते थे और अवसर पाते ही उनके भी गहने-कपड़े चुराने में नहीं चुकते थे।[३] डाकू लोग अधिकतर सौदागरों की गाड़ियों पर लदे माल को लूट कर भाग जाते थे और इसमें उन्हें रक्षकों के साथ लड़ना भी पड़ जाता था।[४] 'गण्ड तिन्दु जातक' के पढ़ने से विदित होता है कि पांचाल नरेश के राज्य में दिन के समय राजपुरुष लूटते थे तथा रात को चोरों की बना करती थी।[५] उन दिनों के राज्यों में प्रायः सर्वत्र घूस लेने की भी चलन देखी जाती है जिससे जनता को बहुत हानि उठानी पड़ती है। 'कणवेर जातक' में हम यदि कोतवाल को घूस लेते देखते हैं[६] तो 'असि लक्खण जातक' से पता चलता है कि शकुन-विचार करने वाले ब्राह्मण तक रिश्वत ले लिया करते हैं[७] और 'धम्मद्ध जातक' वाले कालक नामों सेनापति भी इस दुर्गुण से रहित नहीं जान

---

१. वही, सं० ५४५। २. वही, सं० ६२ अण्डभूत जातक।
३. वही, सं० ३१८। ४. वही, स० २६५ खुरप्पा जातक।
५. वही, सं० ५२०। ६. वही, सं० ३१८।
७. वही, सं० १२६।

पड़ता।[१] इसी प्रकार 'खण्डहाल जातक' वाली कथा में न्यायाधीश को घूस लेते देखते हैं।[२] इसके साथ ही हमें 'किछन्द जातक' से विदित होता है कि ऐसे ही एक अन्य कर्मचारी को इस कर्म का कुफल भी भोगना पड़ जाता है।[३] सबसे उल्लेखनीय बात तो यह जान पड़ती है कि 'भरु जातक' वाला राजा तक स्वयं तपस्वियों से घूस लेकर उनके झगड़े को बढ़ा दिया करता है।[४]

जातकों वाली कई कथाओं द्वारा यह भी प्रकट होता है कि उन दिनों के लोगों में अंधविश्वास की भी कमी नहीं। "नक्खत जातक" से पता चलता है कि एक बार देहात वाले कुछ व्यक्तियों ने नगर में जाकर विवाह के लिए कोई लड़की पक्की की। परंतु जब उन्हें किसी आजीवक अथवा ज्योतिषी से पता चल गया कि वह दिन मंगल-क्रिया के लिए शुभ नहीं है तो वे नहीं गए और वह लड़की दूसरे को दे दी गई। इसी प्रकार "मंगल जातक" में आता है कि एक अंधविश्वासी ब्राह्मण ने अपने कुछ कपड़े इसलिए फेंक दिये कि उनमें उसे अशुभ लक्षण दिखायी पड़े।[६] उन दिनों के सर्व-साधारण में इस प्रकार का भी विश्वास दीखता है कि छींक का आना अपशकुन सूचित करता है और इसी कारण वे छींक आने पर बहुधा जीवें अथवा जियो कह कर उसका दुष्परिणाम दूर कर देने के प्रयत्न करते हुए भी पाये जाते हैं।[७] "दद्दभ जातक" वाली कथा से तो यह भी प्रकट होते देर नहीं लगती कि उन दिनों के लोग न केवल अंधविश्वासी थे, प्रत्युत अंधानुसरण भी कर जाते थे। उन्हें यहाँ तक भी नहीं सूझ पाता था कि केवल किसी साधारण से व्यक्ति के ही

---

१. वही, सं० २२०।　　　२. वही, सं० ५४२।
३. वही, सं० ५११।　　　४. वही, सं० २१३।
५. वही, सं० ४६।　　　६. वही, सं० ८७।
७. वही, सं० १ ५५ गग्ग जातक।

इतना कह डालने पर कि पृथ्वी उलटने जा रही है हम बिना समझे-बूझे इधर-उधर दौड़ने-भागने क्यों लग जाएँ तथा सर्वत्र आतंक फैला दें।[१] इसी प्रकार उन दिनों के ब्राह्मण चांडाल की ओर से आती हुई हवा द्वारा दूषित और पतित हो जाने के भय से आतंकित हो कर प्रायः दिशाओं का साधारण ज्ञान तक भी खो दिया करते थे।[२]

उन दिनों के लोग सत्य-क्रिया पर भी पूरी आस्था रखते थे और इन जातकों में आता है कि इससे उनके कार्य भी सिद्ध हो जाया करते थे। उदाहरण के लिए "मूगपक्ख जातक" वाले काशीराज की पटरानी ने 'सत्य-क्रिया' के ही बल पर संतान लाभ किया।[३] "महा-जनक जातक" वाले राजा के कनिष्ठ राजकुमार ने सत्य-क्रिया करके अपनी हथकड़ी बेड़ी तुड़वा ली तथा बंधनागार के द्वार तक खुलवा दिये। "साम जातक" वाले अंधे माता-पिता ने अपने श्रवणकुमार जैसे पुत्र को सत्य-क्रिया के ही द्वारा विषाक्त बाणों के विष से मुक्त कर दिया।[५] परंतु इतना होते हुए भी सत्य-क्रिया की विधि का कोई स्पष्ट विवरण नहीं पाया जाता, केवल यही पता चलता है कि इसके श्रेयस्कर परिणाम का ज्ञान मानवेतर प्राणियों तक को रहा होगा। क्योंकि "वट्टक जातक" में आई हुई कथा से पता चलता है कि किसी जंगल में आग लग जाने पर अपने घोंसलों में अकेला पड़ा हुआ एक बटेर का बच्चा तक सत्य-क्रिया द्वारा उसे बुझा सकता था।[६] परंतु, "सन्थव जातक" के अंतर्गत एक ऐसी कथा भी आयी है जिसमें किसी ब्राह्मण ने अग्निदेव को प्रसन्न करने के उद्देश्य से, उन्हें घी के साथ मिश्रित खीर पिला दी जिसका परिणाम यह निकला की आग की लपटें पर्याप्त ऊँची हो आई और उसकी पर्णकुटी भी

---

१. जातक सं० ३२२।
२. वही, सं० ३७७ सेतकेतु जातक।
३. वही, सं० ५३८।
४. वही, सं० ५३९।
५. वही, सं० ५४०।
६. वही, सं० ३५।

जल गई ।[1] स्पष्ट है कि यह दृष्टांत 'बट्टक जातक' वाले से सर्वथा भिन्न है और यह कदाचित् अग्निपूजन अथवा होम-क्रिया की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए आया है।

परंतु हम देखते हैं कि उन दिनों के लोगों में उच्च शिक्षा का भी प्रकार कम न था। वे लोग विविध कलाओं में भी पारंगत होते थे। कई जातकों में कहा गया है कि उच्च कोटि की विद्याओं का अध्ययन करने के लिए, लोग तक्षशिला जैसे शिक्षा-केंद्रों में जाया करते थे। जातकों की मूल गाथाओं में तक्षशिला का नाम, स्पष्ट रूप में, किसी शिक्षा-केंद्र जैसा प्रयुक्त हुआ नहीं दीख पड़ता। इस कारण श्री गोकुल दास दे नामक एक लेखक ने उसके, उस काल तक, ऐसा हो चुकने में संदेह प्रकट किया है और अनुमान किया है कि उच्च से उच्च शिक्षा उन दिनों ब्राह्मण पंडितों के ही घरों पर दी जाती रही होगी तथा वहीं से अध्ययन करके लोग वेदादि के ज्ञान में पूर्ण विचक्षण हो जाते रहे होंगे।[2] परंतु जातकों की ही गद्यमयी अट्ठकथाओं में तक्षशिला के शिक्षा केंद्र होने का वर्णन बहुत स्पष्ट शब्दों में किया गया पाया जाता है। "चित्त सम्भूत जातक" से तो यह भी प्रकट होता है कि चांडाल जाति तक के दो लड़कों ने, ब्राह्मण विद्यार्थियों के वेष में जाकर, तक्षशिला में विद्याध्ययन किया था और वहाँ से शिल्पकला की भी शिक्षा ग्रहण की थी। [3] "असदिस जातक" में इस बात की चर्चा आती है कि तक्षशिला में रह कर तीनों वेदों के साथ-साथ १८ विद्याओं तथा कलाओं की शिक्षा प्राप्त की जाती थी।[4] वहाँ पर आचार्य को एक हजार देने का नियम था और बहुत

---

१. वही, सं० १६२।

2. Gokuldas De; Significance of Importance of the Jatakas P. 102.

३. जातक, सं० ४९८। ४. वही, सं० १८१।

से लोग वहाँ अन्य कलाओं की भाँति धनुर्विद्या एवं हस्तशिल्प का भी अभ्यास करते थे।[1] 'सूची जातक' में एक ऐसी अद्भुत सूई के निर्माण की कथा आती है जो क्रमशः ७ फोफियों के भीतर सुरक्षित रखी गई थी और जिसकी विशेषता यह थी कि वह पानी से भरे घड़े के नीचे रखी जाने पर, उसे छेड़कर भीतर वाले जल में सीधी पहुँच जाती और उसकी सतह तक जाकर वैसे ही खड़ी रहा करती।[2]

जातकों वाले युग के भारतीय समाज में पारस्परिक मैत्री भाव को भी विशेष महत्व प्रदान किया जाता था। यह सम्बंध एक समान वय, कुल, रूप, सौंदर्य अथवा धन ऐश्वर्यादि पर आश्रित न रह कर उच्चशील जैसे गुणों की अपेक्षा करता था। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि एक मित्र दूसरे के अवसर पर किसी न किसी प्रकार काम आ जाए। 'गुण जातक' से तो यहाँ तक पता चलता है कि एक बलवान सिंह के निर्बल मित्र सियार ने, समय पड़ने पर उसे दलदल से बाहर निकाल दिया।[3] परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कभी किसी ना समझ में भी विश्वास कर लिया जाए, क्योंकि 'इंद्र समान गोत जातक' वाले हाथी ने बड़े होकर अपने रक्षक को ही मार डाला।[4] 'विधुर पंडित जातक' में तो विधुर द्वारा इस प्रकार कहलाया गया है कि मनुष्य को किसी के यहाँ केवल एक रात भी आश्रय पाकर उसे मित्रवत् मान लेना चाहिए और उसके प्रति किसी भी प्रकार अहित-चिंतन करना महान अपराध है।[5] इस प्रकार की मैत्री एवं सामाजिक एकता के भाव को अक्षुण्ण बनाये रखने के उद्देश्य से उस काल के लोग प्रायः मनोरंजनों एवं महोत्सवों की व्यवस्था किया करते थे। इनके द्वारा वे समय-समय पर कहीं एक

---

१. जातक सं० ५२२ सरभंग जातक।

२. वही, सं० ३८७। ३. वही, सं० १५७।

४. वही, सं० १६१ ५. वही, सं० ५४५।

स्थल पर, एकत्र होते और सामूहिक उल्लास द्वारा पारस्परिक सद्-भावना की पुष्टि करते। ऐसे लोकोत्सवों में से "सुरा नक्खत" की चर्चा इसके पहले ही की जा चुकी है। जिस दिन पहले पहल, किसानों के खेतों की जोताई आरंभ की जाती थी, उस दिन वे लोग एकत्र होकर "वप्प मंगल दिवस" मनाते थे। इसी प्रकार आश्विन की पूर्णिमा के दिन "चातुर्मासिक कौमुदिनी दिवस" भी मनाया जाता था जिसका रूप अंत में राजकीय महोत्सवों का हो गया। एक ऐसा ही अन्य महोत्सव 'हत्थि मंगल' नाम का भी था जो प्रति वर्ष राजप्रासादों के प्रांगण में मनाया जाता था और जिसमें सजे-सजाए हाथियों की पंक्ति खड़ी की जाती थी।[१]

उन दिनों के भारतीय समाज में दास-प्रथा का भी प्रचार था और वे (दास) या तो 'क्रीत' होते थे अथवा गृह में ही उत्पन्न रहा करते थे। ऐसे दासों का युद्ध-क्षेत्रों से पकड़ कर आना जातकों द्वारा सूचित नहीं होता।[२] ये डाकुओं द्वारा लूटे गए माल के रूप में आ जाते थे। 'चुल्ल नारद जातक' से पता चलता है कि उस समय सीमांत के डाकुओं ने जनपद में आकर गाँव को लूटा और लोगों को दास बनाया। 'उरग जातक' से यह भी पता चल जाता है कि एक ब्राह्मण के घर प्रायः ६ सदस्यों का परिवार रहा करता था, जिसमें एक दासी भी रहती थी।[४] इन दासों वा दासियों की स्थिति अधिकतर कष्ट-मयी ही बनी रहती थी, यद्यपि कभी-कभी हमें उनके साथ अच्छे व्यव-हार का भी पता चल जाता है। उदाहरण के लिए 'नानच्छन्द जातक' में आता है कि घर के मौलिक पुरोहित ने अपनी दासी

---

१. मन्मथ राय : हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव, साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद सन् १९५३ ई० पृ० २४-८।

2. Richard Fick : Organisation etc. P. 307-9

३. जातक सं० ४७७। ४, वही, सं० ३५४।

पुण्णा से भी परामर्श किया था।[1] इसके सिवाय 'कटाहक जातक' में जो कथा आती है, उसके अनुसार किसी सेठ की दासी के गर्भ से उत्पन्न दास का पुत्र उसके लड़के, अर्थात् सेठ-पुत्र की भाँति, लिख-पढ़ कर चतुर एवं भाषाविद् बन जाता है और एक अन्य सेठ की पुत्री के साथ छलपूर्वक विवाह भी कर लेता है।[2] लगभग इसी प्रकार की बातें 'कलण्डुक जातक' में भी दीख पड़ती हैं और यहाँ पर एक तोता द्वारा उसे कुछ चेतावनी भी मिलती है।[3] 'गंगमाल जातक' से तो यहाँ तक पता चलता है कि एक राजा ने किसी भिस्ती मज़दूर को उस पर प्रसन्न होकर अपना आधा राज्य दिया। परंतु इस भिस्ती को फिर अपने धन से विरक्ति भी आ गई और अंत में उसने अपने 'आधा मासा' वाले धन पर ही संतोष कर लिया।[4]

जातकों से यह भी पता चलता है कि उनके रचना-काल के समय, भारतीय समाज में विरक्त लोगों की भी कमी नहीं थी। 'युवञ्जय जातक' में एक प्रसंग आता है जिसके अनुसार कोई राजकुमार प्रातःकाल की ओस-बिंदुओं को पत्तों तथा मकड़ी के जालों पर देख कर उनकी क्षणिक अवस्था द्वारा प्रभावित हो जाता है और अपने माता-पिता के रोकने पर भी ध्यान न देकर प्रवज्या ग्रहण कर लेता है।[5] इसी प्रकार 'चुल्ल सुत सोम जातक' वाला एक राजा भी जब वह नाई द्वारा अपने सिर से उखाड़े गए किसी सफेद बाल को देखता है तो वृद्धावस्था को निकट आयी जान कर, प्रवज्या के लिए प्रवृत्त हो जाता है। अपने पिता, सात वर्ष के बालक अथवा गर्भिणी पत्नी की भी एक नहीं सुनता।[6] यह बात केवल राजाओं में ही नहीं देखी जाती, प्रत्युत पुरोहित, उसका लड़का कभी-कभी उसका

१. वही, सं० २८९।
२. वही, सं० १२५।
३. वही, सं० १२७।
४. वही, सं० ४२१।
५. वही, सं० ४६०।
६. वही, सं० ५२५।

सारा परिवार तक इस प्रकार की विरक्ति अपनाया करता है। एक सेठ कुमार अथवा चांडाल तक में भी यह प्रवृत्ति लगभग एक प्रकार की ही दीख पड़ती है।[1] 'गरहित जातक' में आयी हुई कथा से विदित होता है कि एक बार एक बंदर ने जो मनुष्यों के सभ्य समाज में कुछ दिनों तक रह चुका था अपने साथियों में लौटकर जब अपने अनुभवों की राम कहानी सुनायी तो उन्हें मानवों के सांसारिक जीवन की ओर से घृणा हो गई। उन्होंने अपने-अपने कानों को बंद करते हुए अपने उस स्थान तक का परित्याग कर दिया जहाँ पर वैसी निन्दनीय बातें सुनी गई थी।[2] प्रवज्या ग्रहण कर चुकने वाले व्यक्ति यद्यपि वे समाज से अलग रहते थे, किन्तु भिक्षाटन अथवा उपदेश-दान के व्याज से कुछ समय के लिए उसमें आ भी जाया करते थे। इस प्रकार उनके आदर्शों द्वारा प्रायः सर्वसाधारण तक प्रभावित होते रहते थे।

जातकों की कथाओं में हमें बहुत से अंश पौराणिक अथवा काल्पनिक वार्ताओं जैसे लगते हैं। इनमें कई ऐसे भी हैं जिनमें विभिन्न मानवेतर प्राणियों द्वारा मनुष्यवत् व्यवहार किया जाना दिखलाया गया है। इसके सिवाय इनकी अनेक कहानियों में हमें उपदेशों का पुट देकर, किसी न किसी सांप्रदायिक भावना का प्रचार किया गया भी प्रतीत होता है। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि वहाँ, एक साधारण से प्रसंग के व्याज से मानव समाज के ऊपर व्यंग्यात्मक छींटे कसे गए हैं। परंतु इन सभी बातों के होते हुए भी वे सामाजिक प्रसंग जो इन कथाओं के माध्यम का काम करते हैं और जिनका मूलाधार इनके निर्माण की पृष्ठभूमि सा बना लक्षित होता है उनका निःसंदेह अपना एक पृथक् महत्व है। इस विचार

1. Richard Fick : Social Organisation etc. P. 728.
२. जातक, सं० २१९।

से हमें इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की कमी भी नहीं जान पड़ती, अपितु इन्हीं के द्वारा हमें प्राचीन कालीन जीवन की एक सुंदर झाँकी भी मिल जाती है। जर्मन लेखक फिख का तो यहाँ तक कहना है कि "प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन का जो भी विवरण कभी भविष्य में प्रस्तुत किया जाएगा उसे इन जातकों की कथाओं पर किसी न किसी प्रकार अवश्य आश्रित रहना पड़ेगा। इस कारण उसके अनुसार, "इनके विषय में यह कथन भी यथार्थ ही है कि जातक-साहित्य, भारतीय पुरातत्व के सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत अर्थात् इन दोनों प्रकार के ही प्रसंगों के लिए एक विशाल कोश का भी काम देने में समर्थ है।"[1]

---

1. Richard Fick : Social Organisation etc. P. VIII (Author's Preface)

थेरी गाथाओं में भिक्षुणी-जीवन की झाँकी

बौद्ध धर्म की एक बहुत बड़ी विशेषता यह रही कि उसने, पुरुष एवं नारी दोनों के ही लिए जीवनादर्श उपलब्ध करने का लगभग एक समान अवसर प्रदान किया और उन दोनों ने ही वहाँ इसके द्वारा एक समान लाभ उठाने का प्रयत्न भी किया। कहते हैं कि भगवान बुद्ध को पहले ऐसा करना स्वीकार नहीं था और न वे नारियों को अपने संघ में संमिलित करना चाहते थे। परंतु जब उनके शिष्य आनंद ने स्वयं उन्हीं की विमाता महाप्रजापति गौतमी के लिए उनसे आग्रह किया तो उनका ध्यान इस प्रश्न की ओर एक बार फिर से आकृष्ट हो गया और उन्होंने स्त्रियों के लिए भी किसी एक पृथक् संघ की व्यवस्था कर दी। इस बात का एक बहुत बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि न केवल इसके द्वारा उस समय बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार हुआ, अपितु उसके उच्च व्यापक आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण कर भारतीय नारी समाज के प्रायः प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों ने अपने जीवन में सुधार कर लिये। इनमें एक ओर जहाँ कोशल एवं मगध के राजवंशों की कुमारियाँ थीं वहाँ दूसरी ओर सामंतों की कन्याएँ भी थीं। इसी प्रकार इनमें से अनेक जहाँ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न थीं, वहाँ दूसरी गृहपति वा वैश्यवर्ग से सम्बंध रखती थीं। यहाँ तक कि जिस प्रकार इनमें शुभा जैसी एक बढ़ई की पुत्री को स्थान मिला था और चापा जैसा एक बहेलिए की लड़की संमिलित थी उसी प्रकार यहाँ पर एक अंबपाली जैसी गणिका को भी प्रतिष्ठित हो जाने का एक समान अवसर उपलब्ध था। जिन स्त्रियों के जीवन में इस प्रकार कायापलट हुआ और जिन्होंने अपने जीवन की विषमताओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर एक आदर्श जीवन के आनंद का अनुभव किया उन्हीं में से कुछ की निजी अनुभूतियों वाले सुंदर उद्‌गार थेरी गाथाओं में सुरक्षित हैं जो रोचक एवं उपदेशप्रद भी हैं।

पटाचारा श्रावस्ती के एक सेठ की पुत्री है जो अपने किसी नौकर के ही प्रेम में फँस जाती है और वह उसके साथ भाग भी निकलती है। किंतु उसे कहीं शांति नहीं मिलती और वह अनेक विपत्तियों के झमेले में पड़ जाती है। उसका न केवल पति मर जाता है, प्रत्युत उसके एक नन्हें से बच्चे को भी कोई बाज उठा ले जाता है और दूसरा पानी में डूब जाता है। इसी प्रकार उसके माता-पिता एवं भाई के भी एक ही साथ घर की छत गिर जाने से, मरने का समाचार उसे मिलता है जिस कारण वह पगली सी हो उठती है। परंतु भगवान बुद्ध के निकट आ जाने पर वह फिर साधनाओं में लग जाती है। अपनी गाथाओं में वह बतलाती है—"एक दिन मैंने पैर धोने के अनंतर फेंके हुए पानी को ऊँची जगह से नीचे की ओर जाते देखा और तब से अपने चित्त को श्रेष्ठ जाति के घोड़े को सवारी में शिक्षित करने के समान, समाधि में लगाने का अभ्यास किया। फिर मैं दीपक लेकर विहार के कोठे के भीतर गई, वहाँ प्रकाश में चारपाई पर बैठ गई और सामने को दीपशिखा पर ध्यान करने लगी। फिर मैं सुई लेकर दीपक की बत्ती को जैसे ही नीचा करने के उद्देश्य से तेल में डुबोने लगी कि अचानक दीपक बुझ गया। इस प्रकार दीपक का निर्वाण करना था कि उसके साथ ही मेरे चित्त का भी निर्वाण हो गया और तृष्णा की लौ सदा के लिए बुझ गई। पटाचारा पीछे एक अत्यंत उच्च कोटि की भिक्षुणी बन जाती है और उसके उपदेशों द्वारा अन्य अनेक स्त्रियों को भी जीवन में शांति मिलती है। वह अपने विषय में स्वयं कहती हैं "मैं शील से संपन्न हूँ अपने शास्ता अर्थात् भगवान बुद्ध के शासन के अनुसार चलने वाली हूँ अप्रमादिनी हूँ, अचंचल हूँ और विनीत भी हूँ।"[१]

इसी प्रकार श्रावस्ती की ही एक अन्य थेरी कृशा गोतमी भी

---

१. गाथा संख्या ४७।

अपने अनुभवों को गाकर बतलाती हुई दीख पड़ती है। गोतमी किसी निर्धन परिवार की लड़की है और वह दुबली पतली भी है जिस कारण उसे अपने पति के घर में कोई आदर नहीं मिलता। फिर जब उसे एक पुत्र उत्पन्न होता है और उसे लोग कुछ न कुछ अपनाने से लगते हैं, वैसे उसका वह बालक भी मर जाता है और वह उन्मादिनी सी बनकर अपने मृत शिशु को गोद में ले घर-घर जा बड़बड़ाती फिरती है। ऐसी ही दशा में उसकी भेंट भगवान् बुद्ध से हो जाती है जिसके यह कहने पर कि तुम किसी ऐसे घर से सरसों ला दो जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो, वह सब कहीं पूछताछ करने निकलती है और अंत में, सर्वत्र असफल रहकर उनके कथन का रहस्य समझ लेती है। इस प्रकार यह बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है और अपने विषय में गा उठती है—"सत्संग से मनुष्य को दुख का ज्ञान होता है दुख के समुदय का, उसके निरोध का और उसकी निवृत्ति को ओर ले जाने वाले आर्य आष्टांगिक मार्ग का भी ज्ञान हो जाता है। प्रसव के लिए मैं अपने घर की ओर चली जा रही थी कि मार्ग में मैंने अपने मृत पति को देखा और असमर्थ हो गई। भाग्यहीना नारी, तूने असंख्य जन्मों में इसी प्रकार अपरिमित दुख का अनुभव किया है और अपार आँसुओं को बहाया है। हाय! तेरा सभी कुछ लुट गया, सबने तुझे छोड़ दिया और अपना पति तक तुझे छोड़ चलता बना। अहो, आश्चर्य! इस अवस्था में भी मैं मृत्यु से परे हूँ और मैंने अमृत पा लिया है जो निर्वाण के रूप में है। मैं आज वेदना से मुक्त हूँ, सभी बोझों को मैंने आज उतार फेंका है, मेरे सभी कर्तव्य पूरे हो गए हैं और सारे बंधनों से मुझे मुक्ति मिल चुकी है।"[1] कृशा गोतमी ऐसा गाती हुई आत्म-विभोर हो जाती है और उसका सारा का सारा नैराश्य अपूर्व आशावादिता में परिणत हो जाता है।

---

१. गाथा संख्या ६३।

वास्तव में थेरी गाथाओं के अंतर्गत बौद्ध भिक्षुणियों के एक से एक विचित्र अनुभव प्रकट किये गए दीख पड़ते हैं। दंतिका नाम की भिक्षुणी भी श्रावस्ती नगरी की एक कन्या है जिसका जन्म वहाँ के राजपुरोहित ब्राह्मण के घर में हुआ है। उसने महाप्रजापति गोतमी के उपदेश से प्रवज्या ग्रहण की है। दंतिका का कथन है एक दिन मैं विहार के बाहर निकल कर गृध्रकूट पर्वत पर चली गई और वहाँ जाकर उसके शिखर पर बैठ गई। क्या देखती हूँ कि कोई हाथी जल में अवगाहन करके नदी के किनारे आकर बैठ गया है एक अंकुशधारी मनुष्य उसके निकट पहुँचकर उसे आदेश देता है "पैर पसार" और वह अपने पैर फैला देता है जिसके आधार पर वह पुरुष उसके ऊपर चढ़ जाता है। इस प्रकार उस दुर्दांत हाथी को दमित होते एवं मनुष्य की अधीनता स्वीकार करते देख मैंने भी उस गंभीर अरण्य में प्रवेश किया और अपने चित्त को दमित और वशीभूत कर लिया।"[1] फिर एक अज्ञातनामा भिक्षुणी जिसका जन्म-स्थान वैशाली है अपने पति से प्रवज्या के लिए आज्ञा नहीं प्राप्त कर पाती और वह इसी कारण गृहस्थ धर्म का पालन करती हुई रसोई बनाया करती है। एक दिन जब वह शाक पकाती रहती है वह कढ़ाई में जल जाता है जिस घटना के कारण उसे पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वह अपने पति को प्रभावित कर भिक्षुणी बन जाती है वह अपने एक गीत में गाकर कहती है—"वत्से, अब तू सुख की नींद सो। अपने हाथ से बनाये हुए चीवर को ओढ़कर परम शांति प्राप्त कर। अब कढ़ाई में पड़े हुए शुष्क शाक की भांति तेरा भी राग समूह दग्ध होकर शांत हो गया।"[2]

मुक्ता कोसल जनपद के एक दरिद्र ब्राह्मण की कन्या है जिसका विवाह भी किसी दरिद्र कुबड़े से ही हुआ है। वह अपने पति से

---

१ गाथा संख्या २२। २ वही, १।

कहती है कि मेरा गृहस्थाश्रम में रहना संभव नहीं और उसकी आज्ञा से वह प्रव्रज्या ग्रहण कर लेती है। वह आत्मसंयम का अभ्यास करती है और कुछ दिनों के अनंतर सिद्धि लाभ कर उल्लास पूर्वक आनंद के गीत गाने लग जाती है। उसका कहना है "मैं सुमुक्त हो गई, भलीभांति विमुक्त हो गई और तीन टेढ़ी वस्तुओं से अच्छा छुटकारा पा चुकी, ओखली से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से अच्छी विमुक्त हो गई। परंतु इससे भी एक और महान कोटि की मुझे मुक्ति मिल गई। मैं आज जरा एवं मरण से ही मुक्त हो गई, मेरी भव-बेड़ी हो कट गई।—"[१] इसी प्रकार सुमंगल माता नाम की एक अन्य भिक्षुणी भी अपने गृहस्थाश्रम के धंधे से मुक्ति पा कर अपने को धन्य समझती है। यह भी एक दरिद्र परिवार की ही स्त्री है और इसे भी पहले पारिवारिक जीवन के ही कष्टों का अनुभव करना पड़ता है। अंत में प्रव्रज्या ग्रहण कर यह गा उठती है "अहो मैं मुक्त नारी, मेरी मुक्ति कितनी धन्य है। पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज उससे मुक्त हो गई। मेरे स्वामी के पास उनके बनाये हुए छातों की डंडियों की जैसी क्षीणता थी उससे भी क्षीण मेरी देह थी, अब उस जीवन की आसक्तियों को और मलों को मैंने छोड़ दिया और मैं आज वृक्ष मूलों में ध्यान करती हुई जीवन-यापन कर रही हूँ। अहो! मैं कितनी सुखी हूँ और कितने सुख से ध्यान करती हूँ।"[२]

परंतु इन सभी से विलक्षण और उत्कृष्ट गाथा भिक्षुणी शुभा की कही जा सकती है जो राजगृह के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल की कन्या थी और जो भगवान बुद्ध के आने पर उनके उपदेशों से प्रभावित हो उपासिका बन गई थी। शुभा परम सुंदरी थी और उसके शरीरावयवों के सुडौल एवं मनोहर होने के ही कारण उसका

---

१ गाथा संख्या ११। २ वही, २१।

"शुभा" नाम भी पड़ा था। एक दिन जब वह अपने ध्यानाभ्यास के लिए जीवक के आम्रवन में जा रही थी कि मार्ग में उसे एक चरित्र-भ्रष्ट युवक मिल गया। शुभा के सौंदर्य से उसकी ओर आकृष्ट हो जाने के कारण वह उसे नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा लुभाने लग गया। उसने जितना ही उसे, अपने भिक्षुणी-भाव का स्मरण दिलाकर, दुष्टता से विरत करना चाहा उतना ही वह और भी प्रयत्न करने लगा। अंत में जब वह युवक शुभा की आँखों के अनुपम सौंदर्य की प्रशंसा करने लगा तो उस भिक्षुणी से नहीं रहा गया। उसने, बिना किसी भी प्रकार का मनोविकार प्रदर्शित किये, अपनी आँखें निकाल डाली और उस युवक के हाथों में देते हुए कहा "यह लो, यह आँख ही सारे अनर्थों की जड़ है"। परंतु यह देखते ही युवक कंपित हो उठा। वह शुभा के चरणों में गिर पड़ा और इससे बार-बार क्षमा-याचना करने लग गया। कहते है कि शुभा वहाँ से लौट कर फिर भगवान बुद्ध के पास आयी, जहाँ उसकी पवित्रता और निर्मलता और भी स्फुरित हो उठी और इसे पहली ज्योति भी मिल गई।

शुभा की गाथाएँ ३६६ से आरंभ होकर ३९९ तक चलती हैं और इनमें उसका युवक के साथ हुआ संलाप भी आ जाता है। उस लंपट द्वारा अपना मार्ग रोके जाने पर शुभा कहती है "भाई मैंने तेरा क्या अपराध किया है जो तू मुझे रास्ते में रोक रहा है? क्या तुझे पता नहीं कि विरक्त भिक्षुणियों को स्पर्श करना पुरुषों के लिए अनुचित है?" युवक इसके उत्तर में कहता है—"तू तरुणी है, निष्पाप हैं। प्रव्रज्या तेरे लिए क्या करेगी? इस काषाय वस्त्र को दूर फेंक। चल इस पुष्पित वन में हम दोनों रमण करें" और ऐसा कहता हुआ वह उस वन के सौंदर्य का वर्णन करने लग जाता है। वह कहता है—"पुष्प-रेणुओं से मस्त बने वृक्ष चारों ओर मधुर गंध विकीर्ण कर रहे हैं। यह प्रथम वसंत का सुखकारी समय

५

है, चल इस पुष्पित वन में हम दोनों रमण करें। पुष्पों को सिर पर धारण किये ये वृक्ष वायु से प्रकंपित होकर कैसी सुंदर मर्मर ध्वनि कर रहे हैं। बता इस बन में अकेली घूमती हुई तू क्या कभी तृप्ति लाभ कर सकेगी ?" और फिर वह उसी वन की भयानकता का भी स्मरण दिला कर उसे प्रभावित करना चाहता है और कहता है—"हिंस्र जंतुओं से भरे हुए, मस्त हाथियों से रौंदे हुए इस निर्जन भयानक विशाल वन में बता बिना किसी सहायक के तू अकेली कैसे जा सकेगी ?"

फिर युवक शुभा को सोने की पुतली के समान भी बतलाता है उसे नंदन वन की अप्सरा कहता है और यह भी कह उठता है—" अनुपमे, तू काशी के सुंदर सूक्ष्म रेशमी वस्त्रों से सुशोभित होने योग्य है" और इस प्रकार कथन करता हुआ वह उसके समक्ष अपनी अभिलाषा प्रकट करता है और कहता है—"इस वन भूमि में मैं तेरा दास होकर तेरी सेवा करूँगा, यदि तू इसके भीतर चलकर मेरे साथ रमण करे। हे किन्नरी के से मंद लोचनों वाली, पृथ्वी में तेरे समान मुझे और कोई प्रिय नहीं है। यदि तू मेरी बात को स्वीकार करे तो चल हम दोनों गृहवास स्वीकार करें। सुंदर प्रसाद में तू सुख पूर्वक रहेगी, जहाँ अनेक दासियाँ तेरी सेवा करेंगी। वह इसके लिए आभूषणादि की व्यवस्था का प्रलोभन देता है तथा, अंत में यह भी कह डालता है—"अन्यथा हे ब्रह्मचारिणि, सरोवर के उस कमल के समान जिसका अब तक किसी ने सेवन नहीं किया, तू भी अपने विशुद्ध और अब तक किसी के द्वारा न छुये हुए शरीर में वार्धक्य को प्राप्त करेगी" और इस प्रकार कथन कर वह शुभा को अंत में पछताने से बचाने का भी प्रलोभन उपस्थित करता है। परंतु शुभा उसकी इन बातों के किंचित्मात्र भी विचलित नहीं होती और उससे पूछ बैठती है कि जिस शरीर पर वह इतना मुग्ध है वह तो वस्तुतः मांस्यादि गंदगियों से भरी हुई केवल एक नारी-

मात्र है "इसमें क्या है जिस पर मुग्ध हो कर के ऐसा कह रहा है ?"

वह युवक इस प्रश्न के उत्तर में शुभा के सुंदर नेत्रों का वर्णन करने लगता है और कहता है—"सुंदरी, हिरणी के नेत्रों के समान अथवा पर्वत पृष्ठ पर बैठी हुई किन्नरी के नेत्रों के समान तेरे दोनों सुंदर नेत्र हैं। ये तेरे दोनों नेत्र ही मेरी काम-वासना की वृद्धि कर रहे हैं। इन्हें देख कर ही मैं तुझ पर आसक्त हुआ हूँ। कमल-कोश को भी मात करने वाले तेरे स्वर्ग सदृश स्वच्छ मुख-मंडल में स्थित इन दोनों नेत्रों को देखकर मेरी काम-वासना बहुत बढ़ रही है। प्रियदर्शिनि, तेरी दोनों भौंहें कितनी विस्तीर्ण हैं तेरे नेत्र कितने मादक हैं। हे किन्नरी जैसे मंद लोचनों वाली, तू दूर खड़ी है फिर भी तेरे दोनों सुंदर नेत्रों के समान प्रिय वस्तु मेरे लिए संसार में और कोई नहीं है।" जिस पर शुभा उसकी भर्त्सना करने लगती है। वह कहती है—"दुष्ट जहाँ जाने का मार्ग तक नहीं है वहाँ तू जाना चाहता है मानों चंद्रमा को खिलौना बनाने के लिए तू उसे खोजने निकला है। मूढ़, तू सुमेर को ही लाँघना चाहता है, जब कि तू बुद्ध की पुत्री के पीछे इस प्रकार लगता है, क्या तू नहीं जानता कि आर्य अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने वाली मैं बुद्ध की शिष्या हूँ। मैंने वासना के तीर निकाल फेंका है वेदनाओं और चित्त, मलों से रहित होकर मैं सूने स्थानों में जाकर ध्यान करती हूँ, इसी में मेरा आनंद है।"

फिर शुभा उसे बतलाती है—"एक समय मैंने देखा था, सुंदर नई लकड़ी से बनी हुई सुचित्रित कठपुतली खूंटी और ताँत से बँधी हुई, नाना प्रकार के नाच और भाव-भंगी दिखा रही थी। खूंटी और तांत के हटा लेने पर कठपुतली छिन्न-भिन्न होकर गिर पड़ी और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गए, तो बता इस भग्नावशेष पुतली का कौन सा अंग तेरे मन को मोहित करता है ? यही हाल मनुष्य की देह का है उसके विविध अवयव और क्रियाएँ धर्मों या अवस्थाओं के आधार

पर चल रही हैं। यदि ये अवस्थाएँ उत्पन्न हों तो उसके अवयव भी छिन्न-भिन्न हो जायँ। इन छिन्न-भिन्न अवयवों में बता कौन सा अवयव तेरे मन को आसक्त करता है? यह शरीर तो भीत पर बने हरताल से रंगे हुए चित्र के समान है। तू उसे वास्तविक समझे बैठा है। मूर्ख, यह तेरी मिथ्या, विपरीत दृष्टि है। स्वप्न में कल्प-वृक्ष को देखकर तू अंधा हो उसके पीछे दौड़ रहा है। आदमियों की भीड़ में जादूगर के द्वारा दिखाये हुए जादू को देख कर तू उसके पीछे दौड़ रहा है। आँखें क्या हैं? दो गड्ढों में स्थित अश्रुओं से सिंचित तरल बुद्बुद मात्र, इन गुणों का मिश्रित पिंडी चक्षु कहलाता है इससे अधिक वह कुछ नहीं है", और ऐसा कहते हुए शुभा ने, अत्यंत निर्विकार चित्त के साथ उसी क्षण अपनी आँख फाड़ कर उस मनुष्य को देते हुए कहा—"यह मेरी आँख है ले।"

शुभा के ऐसा करते ही उस युवक की काम-पिपासा उसी क्षण शांत हो गई और वह उससे बार-बार क्षमा-याचना करने लग गया। उसने उससे बड़े कातर भाव में कहा "ब्रह्मचारिणि, तेरा मंगल हो। मैं फिर इस प्रकार का अपकर्म कभी नहीं करूँगा। हाथ में प्रज्वलित अग्नि को आलिंगन करने चला था, विषाक्त सर्प को स्पर्श करने चला था, देख, तू स्वास्थ्य लाभ कर। मुझे क्षमा कर, तेरा मंगल हो" और इस प्रकार कहते-कहते वह स्तब्ध सा बन गया। तदुपरांत भिक्षुणी शुभा उससे अपने को मुक्त पाकर भगवान् सम्यक संबुद्ध के पास चली गई जहाँ उस महापुरुष के सामने आते ही उसकी आँखें भी पूर्ववत् स्वस्थ हो गईं।[1]

इस प्रकार भिक्षुणियों में से बहुत सी यदि अपने शिशुओं वा स्वजनों की मृत्यु के कारण विरक्त बन जाती हैं तो कुछ ऐसी भी हैं जो अपने घर के काम काज अथवा कुछ दोषों से ही ऊबकर प्रव्रज्या

---

१. गाथा संख्या—७१।

ग्रहण कर लेती है। इनमें अनेक ऐसी भी हैं जिन पर शास्ता अर्थात् भगवान् बुद्ध के महान व्यक्तित्व का अपूर्व प्रभाव पड़ता है और वे उस ओर आकृष्ट हो सभी कुछ का त्याग कर बैठती हैं। एक ओर जहाँ उन्हें घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, किन्तु वे विचलित होकर भी सँभल जाती हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्हें विभिन्न दैनिक प्रपंचों से ही मुक्ति मिल जाती है और वे पूर्ण शांति का श्वास लेने लगती हैं। वे किसी भी दशा में हतोत्साह नहीं होतीं, प्रत्युत प्रवज्या ग्रहण करते ही किसी ऐसे आनंद का अनुभव करने लगती हैं जो वस्तुतः स्वर्गीय कहा जा सकता है। उनका रमणी-हृदय स्वभावतः अत्यंत भावुक है जिस कारण उनकी आत्मा-भिव्यक्तियों में हमें कभी-कभी आवेश की भी गंध दीख पड़ती है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि उनके जीवन में जो अभूतपूर्व कायापलट आ जाता है उसके कारण उनका पहला व्यक्तित्व रह नहीं जाता। अंबपाली अपनी युवावस्था में परम सुंदरी रहा करती है और एक समय उसे विवाह की अभिलाषा रखने वाले अनेक राजकुमार परस्पर स्पर्धा करते हुए दीख पड़ते हैं। वही अंबपाली जब उपदेश ग्रहण कर प्रवज्या में चली जाती है और वृद्धावस्था में शरीर के परिवर्तनों पर विचार करने लगती है, तो उससे कहे बिना नहीं रहा जाता। वह अपने शरीर के प्रायः प्रत्येक अवयव के पूर्व सौंदर्य का स्मरण कर उसका वर्णन करती है उसकी तुलना अपने वर्तमान समय के जर्जरित अंगों के साथ करती है और प्रत्येक बार कह उठती है, "सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते। काले भौंरे के रंग के समान तथा घुँघराले अग्रभाग वाले कभी उसके बाल थे जो जीर्ण सन के समान है, पुष्पाभरणों से गुंथा हुआ उसका केशपाश था जो कभी हजारों चमेली के पुष्प की सी गंध वहन करता था और वह आज खरहे के रोओं की जैसी दुर्गंध दे रहा है। इसी प्रकार उसकी दोनों भौंहे, उसके दोनों नेत्र उसकी नासिका, उसके कान,

उसकी दंत-पंक्ति और उसकी ग्रीवा तक में घोर परिवर्तन आ गया है तथा वनचारिणी कोकिला की मधुर कूक के समान जो किसी समय उसकी प्यारी मीठी बोली थी वह आज जरावस्था के कारण स्खलित और भर्राई हुई सी बन गई है जिन बातों से भी वचन की सत्यता ही सिद्ध होती है।[1] अंबपाली की गाथाओं वाले इन शब्दों में एक वास्तविक जीवन का परिचय है और एक यथार्थवादिता है जो सचमुच निराली है।

श्रावस्ती की पूर्णिका तो पहले एक साधारण पनिहारिन रह चुकी है, किन्तु जब वह भिक्षुणी बन जाती है तो अपने ही पूर्व प्राप्त अनुभवों के दृष्टांत दे देकर वह किसी कर्मकांडी ब्राह्मण की मनोवृत्ति में निराला परिवर्तन ला देती है। उसका कहना है—"मैं पनिहारिन थी, सदा पानी भरना ही मेरा काम था। स्वामिनियों के दंड के भय से, उनके क्रोध भरे कुवाच्यों से पीड़ित मुझे कड़ी सर्दी में भी पानी में उतरना पड़ता था। ब्राह्मण, तू किस के भय से भयभीत होकर इस कड़ी सर्दी में गहरी नदी में उतर रहा है और निरंतर सर्दी की कठिन पीड़ा सहता है?" और जब इसके उत्तर में वह ब्राह्मण इसे अपने स्नान-कर्म के पापों से मुक्त करने वाला पुण्य-कार्य ठहराने का प्रयत्न करने लगता है तो यह उसे अनेक दृष्टांत देकर कोरी स्नान-शुद्धि की व्यर्थता सिद्ध करती है और उसे अंत में निरुत्तर कर देती है। इस प्रकार वह भी बौद्ध धर्म एवं संघ की शरण में आ सच्चा "स्नातक" बन जाता है।[2] पूर्णिका के कथन में सर्वत्र एक भोलापन है, सहानुभूति है और विशुद्ध कल्याण-भावना है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

ये थेरी गाथाएँ प्रसिद्ध त्रिपिटक साहित्य में से 'सुत्तपिटक' वाले पाँच निकायों के अंतिम 'खुद्दक निकाय' के नवें ग्रन्थ के रूप में आती हैं। इनके ठीक पहले का आठवाँ ग्रन्थ 'थेर गाथा' नाम से प्रसिद्ध

---

१. गाथा संख्या ६६। २. गाथा संख्या ६५।

है। उसमें लगभग ऐसे ही २५५ भिक्षुओं के उद्गार संगृहीत है। उनमें जो कथन आते हैं उनके अंतर्गत भी हमें अनेक विचित्र अनुभवों के वर्णन मिलते हैं और इनके साथ ही उनके प्राकृतिक दृश्यों के विवरण भी बहुत स्पष्ट हैं, किन्तु वे उद्गार अधिकतर भिक्षुओं की ध्यान-साधना के प्रसंग में आये हैं। जहाँ थेरी गाथा के उद्गार वास्तव में वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति हैं। इन दोनों प्रकार की गाथाओं में एक समानता इस बात की दीख पड़ती है कि इसमें मानव-जीवन के प्रपंचों की ओर से विरक्ति प्रदर्शित की गई है। परंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं हो सकता कि उनका पर्यवसान किसी प्रकार के भी नैराश्य में होता है। ये गाथाएँ वस्तुतः मानव-जीवन की कटुताओं तथा विषमताओं के गंभीर अनुभव के उपरांत उपलब्ध उन पर विजय के उल्लास-पूर्ण वक्तव्य हैं और इसी कारण ये संगीतात्मक भी हैं। इनमें भिक्षुओं और भिक्षुणियों के अनुभव बड़ी सूक्ष्मता के साथ प्रकट किये गए हैं जिस समय ये अपने पूर्व जीवन की बातों के साथ अपने नवीन भिक्षु-जीवन की तुलना करने लगते हैं, उस समय उनके प्रत्येक शब्द से उनके हृदय की सचाई का परिचय मिलता है। थेर गाथा के प्रकृति-वर्णन की भी यह एक विशेषता है कि वह सचमुच वस्तुनिष्ठ और यथार्थ प्रतीत होता है। इसमें उद्दीपन के निमित्त किये गए उद्योगों का अभाव सा है।

इन थेरी गाथाओं तथा थेर गथाओं से ही मिलते-जुलते कुछ वर्णन अपदान "सं० अवदान" साहित्य में भी पाया जाता है वहाँ पर भी भिक्षुओं और भिक्षुणियों के ही कृत्यों का वर्णन पाया जाता है। किन्तु ऐसे कृत्य प्रधानतः उनके पूर्व जन्मों से सम्बंध रखते हैं। ये उस वर्ग की गाथाएँ हैं जिन्हें साधारणतया "जातक" का नाम दिया जाता है और जिनमें अतीत जन्म की कथाओं का उल्लेख कर वर्तमान जीवन की ओर भी संकेत रहता है। फिर भी ये "अपदान"

न तो थेर गथाओं तथा थेरी गाथाओं के समान तथ्यपूर्ण एवं रोचक जान पड़ते हैं, न ये उतने सरस एवं भावपूर्ण ही लगते हैं। इस दृष्टि से हम भगवान गौतम बुद्ध सम्बंधी जातक साहित्य को कहीं अधिक महत्वपूर्ण कह सकते हैं। जातकों के अंतर्गत भगवान बुद्ध की वे कथाएँ संगृहीत हैं जो उनके पूर्वकालीन बोधिसत्व जीवन की विविध अवस्थाओं एवं कृत्यों का वर्णन करते हैं। बोधिसत्व की दशा में भगवान अपने बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्यशील दीख पड़ते हैं। ये उस समय विविध प्रकार की स्थितियों में रहकर सत्य, ज्ञान, दया, शील, आदि पारमिताओं का सम्यक् अभ्यास करते हुए पाये जाते हैं और अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं। इन जातकों का एक बहुत बड़ा महत्व इस बात में भी दीख पड़ता है कि इनके आधार पर हम यदि चाहें तो उनके रचना-काल की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का एक सुंदर परिचय भी उपलब्ध कर सकते हैं। ये बातें उपर्युक्त गाथाओं के आधार पर भी हमें प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु उनमें बहुत कुछ व्यक्तिगत अनुभव की भी गंध मिलती है जिसका यहाँ कोई प्रसंग भी नहीं। "जातक" की कथाएँ प्रत्यक्षतः स्वयं भगवान बुद्ध द्वारा ही कथित हैं, किन्तु इन पर अधिकतर चमत्कार का भी रंग चढ़ा हुआ मिलता है। इन जातक कथाओं के अनेक प्रसंग हमें पौराणिक से भी लगते हैं जहाँ उपर्युक्त गाथाओं में सच्चे हृदय की आत्म-कथाएँ दी गई जान पड़ती हैं।

थेर गाथाओं में भिक्षुओं के जीवन-गीत

थेरी गाथाओं में जिस प्रकार बौद्ध भिक्षुणियों के अनुभव जन्य मार्मिक स्वर सुन पड़ते हैं उसी प्रकार थेर गाथाओं के अंतर्गत भी हमें बौद्ध भिक्षुओं के उन गीतों की ध्वनि सुनाई देती है जिन्हें उन्होंने अपनी अंतर्वृत्तियों की साधना के फलस्वरूप शांत और सजग बनकर गाये हैं। इन गायकों का हमें कोई ऐतिहासिक परिचय उपलब्ध नहीं, न इनमें से सभी किसी के जीवन-वृत्तों की ओर किये गए काल्पनिक संकेत ही मिल पाते हैं। इनके विषय में भी हमें लगभग उसी प्रकार अधूरे पते से काम चलाना पड़ता है जिस प्रकार भिक्षुणियों के सम्बंध में और उसी प्रकार हमें, केवल धूमिल रूप-रेखा के आधार पर, यहाँ भी संगति बिठाने का संतोष करना पड़ता है। भिक्षुओं की अधिकांश गाथाएँ छोटी-छोटी और उपदेश-मूलक हैं और इनमें, स्वभावतः उनके व्यक्तिगत अनुभवों के प्रासंगिक उल्लेखों की भी कमी दीखती है। किंतु उनकी जगह यहाँ पर कभी-कभी प्राकृतिक दृश्यों के ऐसे मनोरम चित्रण मिल जाते हैं जो, साधारणतः, केवल सिद्धहस्त कवियों की रचनाओं में ही उपलब्ध हैं। फिर भी हमें इसके द्वारा उन गायकों के किसी वातावरण का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता, न यही विदित हो पाता है कि इनमें कौन कहाँ का निवासी रहा होगा। इससे बस इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि ऐसी गाथा के रचयिता का हृदय सांसारिक बंधनों से सर्वथा मुक्त होकर सुंदर प्राकृतिक दृश्यों में अधिकाधिक रमने लग गया होगा अथवा अपनी आध्यात्मिक साधना की प्रक्रिया में उसे इनसे अनुकूल स्फूर्ति वा प्रेरणा मिलती रही होगी। दोनों प्रकार की गाथाओं के गाने वाले, चाहे वे भिक्षु रहे हों वा भिक्षुणी हों, अथवा उनकी परिस्थितियों में न्यूनाधिक अंतर भी रहा हो वे सभी ठीक एक ही प्रकार के आदर्श जीवन को महत्व देते हैं, एक

ही प्रकार के आनंदोल्लास का अनुभव करते हैं और प्रायः एक ही ढंग से उसे अभिव्यक्त करना भी चाहते हैं। वे एक ही प्रकार की स्थिति तक पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं और उसका मूल कारण भी वे या तो भगवान् बुद्ध के संपर्क अथवा उनके उपदेश को स्वीकार करते हैं। अतएव इन गाथाओं के उन्मुक्त हृदयों के स्वाभाविक उद्‌गार होते हुए भी, इनमें सर्वत्र वे ही स्वर मिलेंगे जो प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध हैं वही विशिष्ट रंग मिलेगा जो बौद्धों के धार्मिक जीवन की अपनी चीज़ है और वही वर्णन-शैली भी मिलेगी जिसका प्रयोग बौद्ध साहित्य के अंतर्गत बराबर दीख पड़ती आई है।

बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों का जीवनादर्श विशुद्ध प्रव्रज्या परक है और वे दोनों ही पूर्ण आभ्यंतरिक शांति को सर्वाधिक महत्व देना चाहते हैं। उन्हें किसी प्रकार के भी सांसारिक बंधनों के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं, न वे उनके कारण निर्मित हो जाने वाले विविध प्रपंचों में, कभी फँसना चाहते हैं। उन्हें गार्हस्थ्य जीवन के धंधों के प्रति पूरी उपेक्षा है और इनसे अपने को बचाकर वनवासी बन जाने पर वे विजयोल्लास प्रदर्शित करते हैं। बौद्ध भिक्षु तो नारी जाति से भी घृणा करता दीख पड़ता है और वह, कदाचित्, अधिकतर इसी कारण, शारीरिक सौंदर्य की घोर निंदा करता भी पाया जाता है। उसकी दृष्टि में नारियाँ मनुष्य को सन्मार्ग से विचलित करने के साधन जैसी हैं और वे ही, वस्तुतः, सारे दुःखों की जड़ है। इसलिए, थेर गाथाओं वाले कई भिक्षुओं द्वारा हम इस प्रकार गर्वोक्ति करते हुए भी पाते हैं कि, किन-किन युक्तियों का आश्रय ग्रहण कर वे उनके जाल से सफलता पूर्वक निकल भागने में समर्थ हुए। इनमें से भिक्षु वड्ढ की गाथा कदाचित् अपवाद स्वरूप है जहाँ उसने कहा है—"अच्छा हुआ कि मेरी माता ने (मेरे उपदेश रूपी छड़ी का प्रयोग किया। माता के ही वचन को सुनकर मैं शिक्षित हुआ। मैं (अब) पराक्रमी हूँ निर्वाण में रत हूँ, उत्तम संबोधि को प्राप्त

हूँ अर्हत् हूँ, दक्षिणार्ह हूँ, त्रैविद्य हूँ और अमृतदर्शी हूँ।"[1] परंतु यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि भिक्षु वड्ढ की इस गाथा का कुछ अंश थेरी गाथाओं की कतिपय रचनाओं (सं० २०४—२१२) से भी मिलता-जुलता जान पड़ता है और, जैसा डा० विंटरनित्स का कहना है, "यह स्पष्ट है कि इन दोनों की गाथाएँ किसी एक ही काव्य के अंग रह चुकी होंगी।"[1]

भिक्षु रट्ठपाल कुरुदेश के किसी थुल्लकोट्ठित गांव के एक बहुत बड़े धनी सेठ के पुत्र हैं, सुख विलास में पले हुए हैं और उनका विवाह भी उचित समय में हो चुका है। कुरुदेश में भ्रमण करते समय उस गांव में पहुँचे हुए भगवान् बुद्ध के उपदेशों द्वारा प्रवाहित हो वे किसी प्रकार अपने माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर प्रव्रजित होते हैं और फिर अर्हत् पद पा लेने के उपरांत वे एक बार भ्रमण करते हुए अपने गांव में जाते हैं, जहाँ उनके घर की स्त्रियाँ उन्हें प्रलोभित करने की चेष्टा करती हैं। उसकी प्रक्रिया में ये उनका उत्तर देते हुए गा उठते हैं—"इस चित्रित शरीर को देखो जो व्रणों से युक्त है, फूला है, पीड़ित है, अनेक संकल्पों से युक्त है और जिसकी ध्रुव स्थिति नहीं है। मणि और कुंडल से सज्जित इस रूप को देखो। चमड़े से ढकी हुई हड्डी वस्त्रों के साथ शोभती है। पाद लाख से सजे हैं और मुँह पर चूर्ण लगा है। यह मूर्ख को मोहने के लिए पर्याप्त है, किन्तु पार (निर्वाण) गवेषक के लिए नहीं। गुंथे बाल हैं और अंजन लगे नेत्र हैं। यह मूर्ख को मोहने के लिए पर्याप्त है, पार गवेषक को नहीं। इत्यादि।"[2]

---

१. थेर गाथा (सं० ३३५-३३६)।
2. Maurice Winternitz: 'History of Indian Litea-ture' Vol. II p. 104 (Notes)
३. थेर गाथा (सं० ७६८-७७१)।

आनंद भिक्षु की गाथा से भी प्रकट होता है कि वहाँ पर भी यही विचार, ठीक इन्हीं शब्दों द्वारा, व्यक्त किया गया है, किन्तु वहाँ यह उस भिक्षु का उपदेश बनकर आया है।[१] इसी प्रकार प्रसिद्ध स्थविर मोग्गलान के नाम से उपलब्ध गाथाओं में भी अन्यत्र इसी बात को किसी वेश्या के प्रति इन शब्दों में कहलाया गया है—"अस्थि-पंजर की बनी कुटी में रहने वाली, नसों से सिये हुए मांसवाली और गंदगी से भरी तुझे धिक्कार है। तू दूसरे के शरीर की इच्छा करती है। तू त्वचा से मढ़ी हुई गूथ की थैली है, छाती पर गंडयुक्त पिशाचिनी है; तेरे शरीर में नौ स्रोत हैं जो कि नित्य बहते रहते हैं। नौ स्रोतों से युक्त तेरा शरीर दुर्गंध युक्त है और बंधन डालने वाला है। तुझे भिक्षु वैसा ही त्याग देता है जैसा कि स्वच्छता की कामना करने वाला गूथ को।[२] और फिर इसके कुछ आगे उपर्युक्त "इस चित्रित शरीर को देखो" आदि कतिपय पंक्तियाँ भी आ जाती है।

वास्तव में भौतिक शरीर की ठीक दशा और विशेषकर उसके दयनीय घृणित रूप का पता हमें एकाध अन्य गाथाओं द्वारा भी चलता है। उदाहरण के लिए भिक्षु कप्प वाली गाथाओं से प्रकट होता है कि उसने, भगवान बुद्ध द्वारा मानवीय शरीर की गंदगी के विषय में उपदेश ग्रहण कर, और अर्हत् का पद प्राप्त कर फिर उसी को, अपने शब्दों में दूसरों के प्रति इस प्रकार दोहराया है—"यह शरीर अनेक मलों से परिपूर्ण है, बड़े गूथ-कूप में जन्मा है, सड़े पानी का गड्ढा जैसा है, बड़ा फोड़ा है, बड़ी चोट है। यह शरीर पीब और खून से भरा है, गलता हुआ गूथ-कूप है; बहते हुए इस शररी से सदा गंदगी निकलती है। यह गंदा शरीर साठ कंडरों से जुड़ा है, मांस

---

१. थेरगाथा सं० १०१६-१०२२।

२. वही, सं० ११५३-११५५।

रूपी लेप से लेपित है, चर्म रूपी कंचुक पहने है और निरर्थक है। हड्डी के ढाँचे से यह घटित है, नस रूपी सूत्रों से बँधा है और अनेक अंगों के मिलने से यह चालू रहता है।......जो इस शरीर को वैसा ही छोड़ता है जैसा कि गूथ लिप्त सर्प को, वह भव के मूल का वमन कर, आस्रव रहित हो परिनिर्वाण को प्राप्त होता है।[1] भिक्षु कप्प मगध के किसी सामंत का पुत्र था और अपने पिता की मृत्यु हो जाने पर, उसकी गद्दी पर बैठते ही विलासी बन गया था। भगवान बुद्ध ने उसकी विलासिता को दूर कर उसके भीतर पूर्ण विरक्ति का भाव भरने के उद्देश्य से इस प्रकार के उपदेश दिये थे जो वैसे अवसरों के लिए बहुत उपयुक्त थे। किन्तु भिक्षु कप्प तथा बहुत से भिक्षुओं ने भी इस प्रकार के उद्‌गारों द्वारा कभी-कभी साधारण स्थितियों में भी पूरी सहायता ली तथा सांसारिक जीवन मात्र के प्रति जुगुप्सा के के भाव का प्रचार किया। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पूर्व प्रत्येक साधक के लिए यह आवश्यक था कि वह न केवल दृश्य जगत् की क्षण-भंगुरता और इसकी दुःखमयता पर सिद्धांत रूप से ही विचार कर ले, अपितु यह अपनी आँखों देख और समझ भी ले कि जिन वस्तुओं को हम पूर्ण महत्त्व देते हैं उनका रूप तत्वतः कितना घृणित एवं सर्वथा हेय है।

थेर गाथाओं से पता चलता है कि बौद्ध भिक्षु केवल सांसारिक जीवन एवं मानवीय शरीरादि से विरक्त भाव ही नहीं प्रकट करते। वे इन बातों का परित्याग कर जंगलों और गिरि-कंदराओं में जा निवास करना तथा अपनी आध्यात्मिक साधनाओं में सदा निरत रहना भी पसंद करते हैं। वे इसी कारण वन के प्राकृतिक दृश्यों की बार-बार प्रशंसा करते हैं और बहुधा यह भी बतलाते रहते हैं कि किस प्रकार वहाँ रहकर वे अपने जीवन व्यतीत किया करते हैं।

---

१. थेरगाथा सं० ५६८-५७१ और ५७७

भिक्षु संकिच्च का जन्म किसी ब्राह्मण कुल में हुआ था और प्रव्रजित होकर उन्होंने अर्हत् पद को भी प्राप्त किया था। उनकी सेवा में निरत उपासक ने जब उनसे अनुरोध किया कि आप कृपा पूर्वक अमुक गांव के निकट रहें और वन प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले झंझा-वातादि से अपनी रक्षा करें तो, इसके उत्तर में, वे कहने लगे—"जब कभी वर्षा ऋतु में झंझावात मेघों को उड़ा ले जाता है, तब मेरे मन के भीतर निष्कामता युक्त विचार उठने लग जाते हैं। अंडे से उत्पन्न और श्मशान में घर बनाकर रहने वाले कौवे ने मुझमें शरीर सम्बंधी वैराग्य युक्त स्मृति उत्पन्न कर दी है।.........जहाँ स्वच्छ जल है, बड़े शिलापट्ट हैं, लंगूर और मृग हैं और जहाँ शैवाल से आच्छादित जलाशय हैं ऐसे पर्वत मुझे प्रिय हैं। अरण्यों में, कंदराओं में, गुफाओं में और जंगली जानवरों से सेवित निवास-स्थानों में मैंने वास किया।...........मैं न तो मृत्यु का अभिनंदन करता हूँ, न जीवन का ही अभिनंदन करता हूँ। मुक्त भृत्य की भाँति मैं अपने समय की प्रतीक्षा में हूँ। ज्ञान पूर्वक स्मृतिमान् हो मैं अपने समय की प्रतीक्षा करता हूँ।[1]" और इस प्रकार बतला कर ये उसे निरुत्तर सा कर देते हैं।

इसी प्रकार, मगध देशीय किसी महातित्थ गांव के एक वैभव-शाली ब्राह्मण कुल में उत्पन्न, भिक्षु महाकस्सप ने भी अपने पर्वत-वास के विषय में कहा है। इनका पूर्व नाम पिप्पली माणवक था और इनमें वैराग्य की प्रवृत्ति अपने लड़कपन से ही थी जिस कारण इन्होंने अपने माता-पिता से कह रखा था कि जब तक आप लोग जीवित रहेंगे, मैं आपकी सेवा-सुश्रूषा, अविवाहित रह कर ही कर दूँगा और आप लोगों का देहावसान हो जाने पर, प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँगा। परंतु इनकी माता को यह बात पसंद न थी, इसलिए, इनकी

---

१. थेरगाथा सं० ५९९-६००,६०२,६०३ और ६०८

ओर से अनेक युक्तियों के होते रहने पर भी, उसने इनका वैवाहिक सम्बंध अनुष्ठित करा दिया। फिर भी इनकी स्त्री भद्रा कपिलानी तथा ये स्वयं-दोनों ही-ब्रह्मचर्य का ही पालन करते रह गए और माता-पिता का देहांत होते ही, दोनों ने प्रवज्या भी ग्रहण कर ली। पिप्पली माणवक ने, प्रवज्या से केवल आठ दिनों के ही उपरांत, अर्हत् पद की प्राप्ति करली और पीछे भगवान् बुद्ध के धुतांगव्रती शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ भी गिने जाने लगे। भिक्षु महाकस्सप ने समय-समय पर अन्य बौद्ध भिक्षुओं को अनेक उपदेश दिये थे और ऐसे ही अवसरों पर प्रसंगवश उन्होंने इस विषय में भी इस प्रकार बतलाया था—"जिस पर्वत पर चढ़ने से कुछ लोग परेशान हो जाते हैं वहाँ बुद्ध का उत्तराधिकारी, ज्ञानी, स्मृतिमान् एवं ऋद्धिबल से युक्त कस्सप चढ़ जाता है। कस्सप भिक्षा से लौट कर पर्वत पर चढ़ कर, आसक्ति रहित हो, भय-भीति रहित हो ध्यान करता है।.........जहाँ करेरि पुष्पों की मालाएँ बिछी हुई हों ऐसे मनोरम भूखंड हैं जो हाथियों के चिंघाड़ से रम्य है, ऐसे पर्वत मुझे प्रिय हैं। जहाँ नील बादलों की तरह सुंदर, शीतल और स्वच्छ जलाशय हैं जो, इंद्रगोपों से आच्छादित हैं, ऐसे पर्वत मुझे प्रिय हैं। नील बादलों की चोटियों के समान उत्तम महलों के शिखरों के समान और हाथियों के चिंघाड़ से रम्य जो पर्वत हैं वे मुझे प्रिय हैं। वर्षा के पानी से प्रफुल्लित, रम्य ऋषियों से सेवित और मोरों के नाद से प्रतिध्वनित जो पर्वत हैं वे मुझे प्रिय हैं।.................उम्मा पुष्प के समान रंगवाले, बादलों से आच्छादित आकाश के समान और नाना पक्षियों के समूह से आकीर्ण जो पर्वत हैं वे मुझे प्रिय हैं। गृहस्थों से अनाकीर्ण, मृग-समूह से सेवित और नाना पक्षि-समूह से आकीर्ण जो पर्वत हैं वे मुझे प्रिय हैं।"[1]

---

1. थेरगाथा सं० १०६३-१०६४, १०६७-१०७० और १०७३-१०७४।

और, अंत में, वे कहते हैं—"पाँच अंगों से युक्त तूर्य से मुझे वैसा आनंद नहीं मिलता जैसा एकाग्र चित्त हो सम्यक् रूप से धर्म के दर्शन करने में।[1]"

परंतु, वास्तव में, इस तथ्य की भी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि कोरा वातावरण का परिवर्तन मात्र ही किसी के लिए पूर्ण शांति का विधायक नहीं बना करता। भीतर भी शांति कायम रहने पर ही वास्तविक आनंद का अनुभव होता है जिस दशा की उपलब्धि हो जाने पर फिर किसी प्रकार की बाहरी बाधाएँ प्रभावित नहीं कर पातीं। जब तक अपने चित्त में शांति नहीं तब तक प्रवज्या ग्रहण मात्र से ही कोई साधक अपने को सफल नहीं मानता। भिक्षु सप्पलदास राजा शुद्धोदन के राज पुरोहित के पुत्र थे और वे भगवान् बुद्ध के पास प्रवजित भी हुए थे, किन्तु मन में निरंतर काम वितर्क होते रहने के कारण, लाख प्रयत्न करने पर भी, उनके चित्त को शांति नहीं मिलती थी। इसलिए अपने जीवन से उदास होकर उन्होंने एक दिन आत्महत्या तक की तैयारी करली और, फिर, किसी प्रकार समाधिस्थ होने पर ही उन्हें अर्हत् पद मिल सका। वे स्वयं कहते हैं—"मुझे प्रवजित हुए पचीस वर्ष हुए, किन्तु अंगुली बजाने भर समय के लिए भी मुझे शांति नहीं मिली। चित्त की एकाग्रता को न पा, काम राग से पीड़ित हो, बाँह पकड़ कर रोता हुआ मैं विहार से निकल गया। (आत्महत्या के लिए) शस्त्र लाऊँगा, मेरे जीने से लाभ ही क्या है ? मुझ जैसा व्यक्ति नियमों को त्याग कर कैसे मर सकता है ? तब मैं उस्तरा लेकर पलंग पर बैठ गया। अपनी धमनी काटने के लिए गले पर उस्तरा रखा ही था तब तक मुझे विवेक पूर्ण विचार हो आया, शरीर के दुष्परिणाम प्रकट हुए और निर्वेद उत्पन्न हुआ। तब मेरा चित्त मुक्त हुआ। धर्म की महिमा को देखो।

---

१. थेर गाथा सं० १०७६।

मैंने तीन विद्याओं को प्राप्त किया और बुद्ध शासन को पूरा किया।"[1] और, इस प्रकार बतला कर वे पूर्ण संतोष का अनुभव करते हैं तथा अपने जीवन को सफल समझ पाते हैं।

इसीलिए भिक्षु तालपुट ने बराबर अपने चित्त की शांति की ओर ही सबसे अधिक ध्यान दिया है और प्रव्रज्या के पूर्व तथा उसके अनंतर भी उन्होंने सदा अपना यही अभीष्ट रखा है कि किस प्रकार उसका नियंत्रण कर आदर्श जीवन-यापन करें। तालपुट राजगृह में उत्पन्न हुए थे और, नाट्यकला में निपुण पाँच सौ नर्तकियों के साथ सारे देश में भ्रमण कर, नाटकों का अभिनय करने में सर्वत्र ख्याति भी प्राप्त कर चुके थे। अंत में भगवान् बुद्ध के पास प्रव्रजित होकर इन्होंने अर्हत् पद की उपलब्धि की तथा अपने ढंग के एक प्रसिद्ध भिक्षु के रूप में गिने जाने लगे। भिक्षु तालपुट ने अपनी प्रव्रज्या के पूर्व जो मनोदमन वा मनोनियंत्रण के लिए उद्योग किये थे उसका वर्णन, उनके द्वारा गाथाओं में प्रकट की गई उत्कट अभिलाषा के रूप में, मिलता है। उन्होंने अधिकतर इस प्रकार कहा है—"मैं कब पर्वत गुफाओं में अकेला, बिना किसी दूसरे के विहरूँगा और सारे भव को अनित्य के रूप में देखूँगा? मेरी यह अभिलाषा कब पूरी होगी? मैं कब पैबंद लगा चीवर धारण कर, काषाय वस्त्रधारी मुनि हो, अहंकार रहित हो, तृष्णा रहित हो, राग-द्वेष तथा मोह का नाश कर सुख पूर्वक बन में विहरूँगा?"[2] परंतु जब इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण करली है और उस दशा में भी इनके चित्त की पूर्ण शांति नहीं मिल सकी है तो ये सीधे मन को ही संबोधित करके कहने लगे हैं—"चित्त, बहुत वर्षों तक नियम पूर्वक तुम कहते थे कि "यह गृहवास पर्याप्त है"। अब मेरे प्रव्रजित हो जाने पर तुम

१. थेर गाथा सं० ४०५-४१०।
२. वही सं० १०६६-१०६७।

किस लिए (श्रमण धर्म में) नहीं लगते ? चित्त, विनय पूर्वक तुम मुझे कहते न थे कि पर्वत गुफा में ध्यान करने वाले को मेघ-गर्जन से प्रसन्न सुंदर पंख वाले पक्षी अपने गीतों से प्रमुदित करेंगे ? मैं परिवार, मित्र, प्रिय, बंधु, क्रीड़ा, रति और सांसारिक काम गुण, इन सबको त्याग कर इसमें आ गया। फिर भी चित्त, तुम मुझसे प्रसन्न नहीं हो ? चित्त, मेरे ही हो, दूसरे के नहीं। संग्राम के समय रोने से क्या लाभ ? यह सब नाशवान देखकर मैं अमृतपद की गवेषणा में निकला।......मोर और क्रौंच पक्षी के गीतों से प्रतिध्वनित कानन में, चीतों और बाघों के साथ रहते हुए शरीर की अपेक्षा छोड़ दो और अपने अवसर को न खोओ'—इस प्रकार चित्त, तुम पहले मुझसे आग्रह किया करते थे।......'मुंडा हो, विरूप हो, अभिशाप में आकर कपाल जैसे पात्र को हाथ में लेकर कुलों में भिक्षा करो और महर्षि शास्ता के वचन का अनुसरण करो'—इस प्रकार, चित्त तुम पहले मुझसे आग्रह किया करते थे।......'अरण्य में, भिक्षा से जिये, श्मशान में ध्यान किये, चिथड़ों का बना चीवर पहने, बिना लेटे आराम किये और सदा शुद्धि में रत रहे—इस प्रकार, चित्त, तुम पहले मुझसे आग्रह करते थे जैसा कि फल की इच्छा रखने वाला मनुष्य पेड़ को लगा कर फिर उसी को जड़ से काटे, चित्त, जो तुम अनित्य और नाशवान संसार में मुझे लगाना चाहते हो सो तुम वैसा ही कर रहे हो। रूप रहित, दूरगामी, एक चारी (चित्त) अब मैं तुम्हारी बात नहीं करूँगा। काम दुःखदाई है, कटुक है और बहुत भयानक हैं। मैं निर्वाण की ओर ही चलूँगा। मैं न तो विपत्ति के कारण, न मजाक के लिए, न विनोद के लिए, न भय से और न जीविका के लिए ही (घर से) निकला हूँ। चित्त, मैंने (अपने वश में) रहने की प्रतीज्ञा तुमसे की है।......मैं उगल गया हूँ, जो उगला है मैं उसे निगल नहीं सकता, चित्त, सर्वत्र अनेक जन्मों में मैंने तुम्हारे वचन का पालन किया था, मैंने तुम्हें अप्रसन्न नहीं

किया। इस आत्मीयता का, तुम्हारी कृतज्ञता का यही परिणाम हुआ कि मैं चिरकाल तक दुःख सहता रहा।......चित्त, तुम बारंबार मेरे साथ विश्वासघात न कर रहे हो। तुम बारंबार नाटक कर रहे हो। पागल की तरह मुझे प्रलोभन दे रहे हो। चित्त, बताओ तो मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?......चित्त, यह जन्म तुम्हारे लिए पहले जैसा नहीं है। मैं लौटकर तुम्हारे वश में रहने योग्य नहीं हूँ। मैं महर्षि के शासन में प्रव्रजित हुआ हूँ। मेरे जैसे लोग विनाश को स्वीकार नहीं करेंगे।......मैं अपने उद्देश्य पर दृढ़ हूँ, चित्त, तुम मेरा क्या कर लोगे? चित्त, मैं तुम्हारे वश में रहने योग्य नहीं हूँ। दोनों ओर से खुली हुई और गंदगी से भरी हुई इस थैली को कौन छूवे? गहने वाले नौ स्रोत वाले इस शरीर को धिक्कार है।...... चार अंगुल तृण पर पानी बरसने पर, पर्वत के बीच वृक्ष की तरह, मेघ जैसे प्रफुल्लित कानन मे निश्चिंत हो बैठूँगा और उस समय (तृण का आसन) रूई की भाँति मुलायम जान पड़ेगा।......मैं तुम्हें बल पूर्वक आलंबन (समाधि के विषय) में वैसा ही बाँध डालूँगा जैसा कि हाथी को मजबूत रस्सी से खंभे में। तुम मेरी स्मृति द्वारा सुरक्षित और सुभावित (अभ्यस्त) हो सभी भावों में अनासक्त होगे।"[1]

भिक्षु सारिपुत्त ने एक आदर्श भिक्षु के लक्षण बतलाये हैं और यह भी कहा है कि उसे किस प्रकार अपना दैनिक जीवन व्यतीत करना चाहिए। ये स्वयं भगवान् बुद्ध के दो प्रधान शिष्यों में से एक थे जिनमें से दूसरे अर्थात् मोग्गलान की चर्चा इसके पूर्व की जा चुकी है। सारिपुत्त का जन्म उपतिस्स गांव के एक ब्राह्मण कुल में और मोग्गलान का भी जन्म, उसी प्रकार किसी कोलित गांव के एक

---

१. थेर गाथा सं० ११११-१११४, १११७, ११२२, ११२४-११२७, ११३०, ११३३, ११३६, ११३८, ११४१, ११४५ और ११४८।

ब्राह्मण कुल में हुआ था और ये दोनों ही, अपने बचपन से, परस्पर मैत्री-भाव रखते थे। एक दिन दोनों मित्र जब कभी राजगृह में कोई उत्सव देखने गए तो वहीं दोनों को विरक्ति उत्पन्न हो गई और ये दोनों ही संजय परिव्राजक के शिष्य बन गए। परंतु जब संजय के उपदेशों द्वार इन्हें पूर्ण संतोष नहीं हुआ तो उनसे विदा लेकर ये दोनों फिर सत्य की खोज में निकल पड़े। इसी बीच इनकी कहीं, भिक्षु अस्सजी से, भेंट हो गई जो भगवान् के प्रथम पाँच शिष्यों में से थे और जिन्होंने इन्हें उनके उपदेशों का परिचय करा दिया। अंत में फिर ये दोनों ही भगवान् बुद्ध के पास पहुँचे और इन्होंने उनसे प्रवज्या ग्रहण कर अर्हत् पद को प्राप्त किया तथा दोनों ही एक साथ प्रसिद्ध हुए। भिक्षु सारिपुत्त को धर्म सेनापति भी कहा जाता था। भिक्षु सारिपुत्र के अनुसार—जो शीलवान् है, शांत है, स्मृतिमान् है, शुद्ध विचार वाला है, अप्रमादी है, अध्यात्म चिंतन में रत है, समाहितात्म है, अकेला है और संतोषी है—वही 'भिक्षु' कहलाता है।[1]" और, ऐसे भिक्षुओं के लिए कर्त्तव्य निर्धारण करते समय भी, उन्होंने कहा है—"गीला या सूखा भोजन लेते समय पेट भर न ले। हल्का पेट हो, भोजन में उचित मात्रा हो और स्मृतिमान् होकर भिक्षु के विचरण करे। चार पाँच ग्रासों के लिए स्थान रहने पर पानी पी ले। निर्वाण प्राप्ति में रत भिक्षु के सुख विहार के लिए यह पर्याप्त है। अनुकूल चीवर और सो भी काम पर पहने। निर्वाण प्राप्ति में रत भिक्षु के लिए यह प्रर्याप्त है। पालथी मारकर बैठने से घुटने वर्षा के पानी से न भिगे तो यह निर्वाण-प्राप्ति में रत भिक्षु के लिए प्रर्याप्त है। जिसने सुख को दुःख के रूप में और दुःख को तीर के रूप में देखा है, और उन दोनों के बीच कहीं स्थायी अस्तित्व को नहीं पाया है, उसे संसार में क्या कहीं आसक्ति हो सकती है?............जो

---

१. थेरगाथा सं० ६८०।

प्रपंच को त्याग कर निष्प्रपंच में रत है, वही अनुत्तर योगक्षेम-रूपी निर्वाण को प्राप्त करता है।२" और, इस प्रकार, इन्होंने भिक्षुओं के लिए जो भी बतलाया है उससे उनकी आभ्यंतरिक शुद्धि को ही अधिक महत्व देना सिद्ध होता है।

भिक्षु उपसेन ने भी, जो भिक्षु सारिपुत्त के ही अनुज थे और जिन्होंने उनके ही अनुसरण में प्रव्रज्या ग्रहण की थी, लगभग उपर्युक्त बातों को ही दोहराया है। इनका कहना है—"ध्यान मग्न होने के लिए भिक्षु विविक्त, कम आवाज वाले, जंगली जानवरों से सेवित निवास स्थान का सेवन करे। कूड़े के ढेर से, श्मशान से और गलियों से चिथड़े लेकर और उनसे संघाटि (दोहरा चीवर) बनाकर रूक्ष चीवर धारण करे। भिक्षु बंद-द्वार हो अर्थात् इंद्रियों को संयमित करके, सुसंयत हो, नम्र भाव से एक सिरे से लेकर घर-घर भिक्षा के लिए विचरण करे। रूक्ष भोजन से संतोष कर ले और इसकी भी बहुत इच्छा न करे, जो रस के फेर में पड़ता है उसका मन ध्यान में नहीं रमता। मुनि अल्पेच्छुक हो, संतुष्ट हो, एकांतवासी हो, गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों से अलग हो विहरे। जड़ और मूक जैसा है वैसा ही अपने को दर्शाये। पंडित संघ के बीच अधिक समय तक भाषण न करे।······इस प्रकार विहरने वाले, शुद्धि की कामना करने वाले भिक्षु के सभी आस्रव क्षीण हो जाते हैं और वह शांति को प्राप्त होता है।"[1] जिससे भिक्षु सारिपुत्त के कथन की पूरी व्याख्या हो जाती है।

आभ्यंतरिक शुद्धि हो जाने तथा चित्त शांति आ जाने पर किसी व्यक्ति में क्या से क्या परिवर्तन हो जाते हैं इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण हमें अंगुलिमाल में दीख पड़ता है जो अपने प्रारंभिक जीवन में एक निर्दयी और आततायी व्यक्ति रह कर भी, पीछे प्रसिद्ध भिक्षु

---

१. थेर गाथा सं० ९८१-९८५ और ९८९।

बन गया। अंगुलिमाल के लिए कहा गया है कि वह कोसल नरेश के भग्गव नामक पुरोहित का पुत्र था और उसका नाम अहिंसक रखा गया था। परंतु उसके जन्म-दिन से ही उसमें आततायी होने के पूर्व लक्षण दिखाई देते थे। शिक्षा के लिए उसे तक्षशिला भेजा गया जहाँ वह अपने आचार्य का प्रिय शिष्य बन गया और इस बात से जलने वाले उसके सहपाठी उसकी निंदा करने पर तुल गए। तदनुसार कई बार उन्होंने आचार्य से इसकी त्रुटियों के विषय में कहा-सुना और उन्हें इसके विरुद्ध उभाड़ने में वे सफल भी हो गए। परंतु अहिंसक बहुत बलिष्ठ दीख पड़ता था, इसलिए आचार्य ने इसे दंड देने अथवा मारने का एक विचित्र उपाय सोचा। उन्होंने अहिंसक को बुलाकर कहा अब तुम्हारी शिक्षा समाप्त है, इसलिए गुरु-दक्षिणा के रूप में मुझे तुम एक सहस्र अंगुलियाँ ला दो। आचार्य ने यह सोचा था कि एक सहस्र अंगुलियों को काटने के प्रयत्न में यह एक न एक आदमी से अवश्य मार खायगा वा मारा जायगा। अहिंसक ने अपने आचार्य की आज्ञा स्वीकार कर ली और कोसल के जालिन नामक जंगल में जाकर वह उधर के पथिकों की अंगुलियाँ काटने का कार्य करने लग गया। इस कारण वह तब से अंगुलिमाल के नाम से प्रसिद्ध हो चला और उससे आतंकित होकर बहुत से लोग अपने गाँव छोड़ कर भागने लग गए तथा राजा को उसे पकड़ने के लिए अपने सिपाही भेजने पड़ गए।

अंगुलिमाल की माता को जब इन बातों का पता चला तो उसने अपने पुत्र की खोज करने के लिए अपने पति से कहा। परंतु जब उसके पति ने इधर कोई ध्यान नहीं दिया तो वह स्वयं उसकी खोज में निकल पड़ी और किसी न किसी प्रकार, उसके निकट तक पहुँच गई। अंगुलिमाल को तब तक एक ही अंगुलि की कमी रह गई थी। जिस कारण अपनी मां को दूर से आती हुई देखकर उसने सोचा कि आज मैं अपनी माँ की ही अंगुलि से एक सहस्र की संख्या पूरी कर-

लूँगा। परंतु उसी समय संयोगवश उधर से भगवान बुद्ध भी आ पहुँचे जिन्हें देखकर अंगुलिमाल के जी में आ गया कि क्यों न इस श्रमण की ही अंगुलि काट लूँ। तदनुसार जब उन्हें पकड़ने के लिए वह आगे बढ़ा तो वे इसे, कितना भी प्रयत्न करने पर, अपने से दूर ही प्रतीत होने लगे। अतएव, अंगुलिमाल ने पुकार कर कहा श्रमण ठहरो" जिसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने बतलाया "अंगुलिमाल, मैं तो ठहरा हुआ हूँ, तुम ही चलते जा रहे हो।" इस पर अंगुलिमाल ने सोचा कि श्रमण झूठ न बोलता होगा, इस कारण, इसके शब्दों में कुछ न कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए और उसे जानने की इच्छा से इसने उनसे उनके शब्दों का गूढार्थ पूछा। भगवान् बुद्ध ने इसे अपने उपदेशों द्वारा उसका बोध कराया जिससे पूर्ण प्रभावित हो उसने प्रवज्या ग्रहण करली और अर्हत् पद को प्राप्त कर पूरा भिक्षु बन गया। परंतु भिक्षा माँगते समय कुछ लोग उस पर पत्थर फेंक दिया कर देते थे जिससे आहत होकर उसने फिर एक बार भगवान् बुद्ध से इसका कारण पूछा और इसके उत्तर में उन्होंने बतलाया कि "अंगुलिमाल, तुम जन्म-जन्मांतर के दुःखों से मुक्त हो गए अब तुम्हें इतना ही सहना है, इसे सह लो।" थेर गाथा में इसी प्रसंग की बातें आती हैं— "श्रमण, चलते हुए कहते हो कि 'मैं ठहरा हूँ' और ठहरे हुए मुझे कहते हो कि तुम चलते हो। श्रमण, तुमसे यह बात पूछता हूँ कि तुम ठहरे कैसे हो और मैं ठहरा कैसे नहीं हूँ?" "अंगुलिमाल, सभी प्राणियों के प्रति दंड-त्याग कर मैं सदा स्थिर हूँ। तुम प्राणियों के विषय में असंयत हो, इसलिए, मैं स्थिर हूँ और तुम अस्थिर हो।[1] आगे भिक्षु अंगुलिमाल स्वयं अपने विषय में कहते है—"नहर वाले पानी को ले जाते हैं, वाण बनाने वाले वाण को ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ी को ठीक करते हैं और पंडित जन

---

१. थेर गाथा सं० ८६५-८६६।

अपना दमन करते हैं, कुछ प्राणी दंड से, अंकुश से या चाबुक से दमित किये जाते हैं, लेकिन मैं बिना दंड के, बिना शस्त्र के अचल (बुद्ध) द्वारा दांत हूँ। हिंसा करने वाले मेरा नाम पहले अहिंसक था; आज मेरा नाम सत्य सिद्ध हुआ है और अब मैं किसी की भी हिंसा नहीं करता। पहले मैं अंगुलिमाल (नामक) विख्यात चोर था महा प्रवाह में बहते जाते समय मैं बुद्ध की शरण में गया।...मैं पहले दोनों ओर से परिशुद्ध, उदिच्च ब्राह्मण जाति का था। आज मैं सुगत धर्मराज, शास्ता का पुत्र हूँ।[1]

---

1. थेर गाथा सं० ८७६-८७६ और ८८८।

उदान वाले वचनों के प्रसंग

'उदान' शब्द साधारणतः पंच प्राणों में से एक के नाम का सूचक समझा जा सकता है जो मानव शरीर के अंतर्गत नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित होता है। इस कारण लक्षणा से हमें इसके द्वारा किसी ऐसे उद्‌गार का भी बोध हो सकता है जो, अवसर पाकर किसी व्यक्ति के मुख से, आप से आप प्रकट हो। भावावेश में आये हुए संतों-महात्माओं के मुख से निकले सारगर्भित वाक्यों के लिए भी, इसी आधार पर, 'उदान' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तदनुसार 'खुद्दक निकाय' के १५ ग्रन्थों में गिने गये 'उदान' से भी तात्पर्य वस्तुतः उन महत्व पूर्ण बुद्ध वाक्यों के एक संग्रह से ही है जिन्हें उन्होंने, समय-समय पर, अपने संघ में कहे थे। ये वचन देखने में बड़े नहीं हैं, किन्तु अपने भाव-गांभीर्य के कारण, बिना प्रासंगिक संकेतों के, सर्वसाधारण की समझ में नहीं आ पाते। 'उदान' वाले उपर्युक्त ग्रन्थ में, इसी कारण, उनमें से प्रत्येक के पहले कुछ न कुछ बातें, उसको प्रस्तावना के रूप में, दे दी गई हैं जिससे उसके वास्तविक भाव को समझने में सहायता मिलती है। 'उदान' के अंतर्गत आठ वग्ग (वर्ग) है जिनमें से, सातवें को छोड़कर, शेष में से प्रत्येक में दस 'सुत्त' हैं। प्रत्येक 'सुत्त' के अंत में फिर कोई एक 'उदान' वा बुद्ध वचन आया है। सातवें 'वग्ग' में सुत्तों की संख्या केवल नव ही दीख पड़ती है जिसका कोई प्रत्यक्ष कारण विदित नहीं। डा० विंटरनित्स ने तो प्रत्येक 'वग्ग' के अंतर्गत दस सुत्तों का होना बतलाया है।[1] 'उदान' के आठों वर्गों को क्रमशः बोधिवर्ग, मुचलिंदवर्ग,

---

1. M. Winternitz : 'A History of Indian Literature,' Vol II p. 84.

नंदवर्ग, मेघियवर्ग, सोण स्थविर का वर्ग, जात्यंधवर्ग, चूलवर्ग एवं पाटलिवर्ग कहा गया मिलता है और इन शीर्षकों में से प्रत्येक के नीचे उस वर्ग के वर्ण्य विषय की ओर किया गया कुछ न कुछ संकेत भी पाया जाता है। उसके अनंतर "ऐसा मैंने सुना" कहकर 'सुत्त' प्रसंग का आरंभ किया जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक 'सुत्त' का प्रारंभिक प्रसंग किसी ऐसे व्यक्ति के कथन के रूप में आया है जो, विशिष्ट बुद्ध वचन को बतलाने के पहले, उसके उस अवसर का भी परिचय दे देना चाहता है जब वह सर्वप्रथम, प्रकट किया गया होगा जिससे, उसके पूरे वातावरण का पर्याप्त ज्ञान हो जाने पर, अभीष्ट रहस्य का स्पष्टीकरण हो सके। इन प्रायः सारे प्रसंगों के अंतर्गत भगवान् बुद्ध के जीवन की किसी न किसी ऐसी घटना की चर्चा आई है जिसके सम्बंध में उन्हें अपने शिष्यों अथवा कभी सर्वसाधारण के लिए भी कुछ उपदेश देने का अवसर मिला है तथा उनसे लाभ उठाकर ऐसे लोगों ने अपने जीवन में कायापलट तक ला दिया है। अतएव, 'उदान' के अंतर्गत संगृहीत बुद्ध वचनों का बहुत बड़ा महत्व है और इनके द्वारा कभी-कभी बौद्ध धर्म एवं दर्शन की बहुत सी गुत्थियों के सुलझाने में भी काम लिया जाता है। परंतु, इसके साथ ही, इनका बहुत कुछ मूल्य उन प्रसंगों के भी कारण बढ़ जाता है जो उनके पहले दिये गये मिलते हैं। उनसे न केवल इस बात का ही पता चलता है कि भगवान् बुद्ध के जीवन में किस प्रकार की घटनाएँ प्रायः घटा करती थीं तथा उनका उपयोग भी वे किस प्रकार कर लिया करते थे, अपितु हमें उनसे उस युग के सामाजिक जीवन एवं व्यक्तिगत और नैतिक समस्याओं का भी कुछ न कुछ आभास मिल जाता है तथा हम भारतीय संस्कृति के तत्कालीन रूप का किंचित् परिचय भी पा लेते हैं। प्रत्येक 'सुत्त' के पहले लगे हुए वाक्य "ऐसा मैंने सुना" से यह अवश्य सूचित होता है कि जो व्यक्ति उसमें कथित प्रसंग को छेड़ने जा रहा है उसे उसका

व्यक्तिगत परिचय नहीं हो सकता और उसका ऐसा सारा कथन, सुना-सुनाया होने के कारण, पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। हमें यह भी निश्चित रूप से विदित नहीं कि 'उदान' में संगृहीत बुद्ध वचनों को सर्वप्रथम, किसने और कब एकत्र किया था तथा स्वयं उसने ही उक्त प्रसंगों को उनके साथ जोड़ा भी था वा नहीं। फिर भी इतना अनुमान कर लेने में कदाचित्, कोई भी हानि नहीं कि उन दोनों का सम्बंध सुदीर्घ परंपरा से स्वीकृत हो चुका होगा और इसी कारण उसे तथ्य मान लेना भी कभी निराधार नहीं कहला सकता।

जिस समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में, अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में, विहार कर रहे थे उस समय की एक चर्चा 'नंदवर्ग' के अंतर्गत, इस प्रकार, आती है—नंद भगवान् बुद्ध के मौसेरे भाई थे और भिक्षुओं के साथ रहकर ब्रह्मचर्य व्रत की शिक्षा पा रहे थे। एक दिन उन्होंने अपने साथियों से कहा, "आवुस, मैं बे मन से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहा हूँ। मैं अपने ब्रह्मचर्य को निभा नहीं सकता; शिक्षा को छोड़ मैं गृहस्थ हो जाऊँगा।" जिस बात को किसी ने जाकर भगवान् बुद्ध से कह दिया। भगवान् बुद्ध ने इस बात को सुनकर अपने यहाँ नंद को बुलाया और उन्होंने इनसे पूछा, "क्या यह सच है कि तुमने कुछ भिक्षुओं से ऐसी बात कही है?" नंद ने उनसे इस बात को स्वीकार कर लिया और उनसे इसका कारण पूछने पर, बतलाया 'भन्ते, मेरे घर से निलकने के समय शाक्यानी जनपद-कल्याणी ने खुले हुए केशों से मेरी ओर देखकर कहा था, "प्रिय, जल्दी लौट आना।" भन्ते, उसी की याद में मैं ब्रह्मचर्य-पालन करने में असमर्थ हो रहा हूँ। मैं इस व्रत को नहीं निभा सकता। शिक्षा छोड़-कर गृहस्थ बन जाने की मेरी इच्छा हो रही है।" जिसे सुनकर भगवान् बुद्ध ने, अपनी अलौकिक शक्ति से, उन्हें देवेंद्र शक्र की पाँच सौ सुंदरी अप्सराएँ दिखलायीं। उन्हें नंद के सामने प्रत्यक्ष कर भग-

वान् बुद्ध ने उनसे पूछा, "नंद, क्या समझते हो, शाक्यानी जनपद-कल्याणी इनसे अधिक सुंदरी है?" जिसके उत्तर में इन्होंने अप्सराओं की तुलना में अपनी पत्नी को 'नकटी और कनकटी तथा सड़ी पचकी बंदरी' तक कह डाला और जब इनसे यह भी कहा गया—"नंद, विश्वास करो, इन पाँच सौ अप्सराओं को तुम्हें दिला देने का मैं जामिनी होता हूँ। अभी तुम जी लगाकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो।" तो इन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। जब इनके साथी भिक्षुओं को इसका पता चला तो वे इनसे कहने लगे, "हाँ, अच्छी मज़दूरी कर रहे हो। अच्छा दाम भर रहे हो—नंद अप्सराओं के कारण ब्रह्मचर्य की मज़दूरी दे रहा है, दाम भर रहा है।" परंतु नंद ने अपने साथियों के इस तरह ताना मारने और चिढ़ाने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और सच्ची लगन के साथ तपश्चरण कर शीघ्र ही उसके फल का साक्षात्कार कर लिया, नंद ने 'इस प्रकार' उस अर्हत् पद को भी प्राप्त कर लिया जिसके लिए भिक्षुओं को प्रव्रज्या ग्रहण करनी पड़ती है। तदनुसार ये फिर भगवान् बुद्ध के निकट पहुँचे और इन्होंने उनसे कहा, "भन्ते, उन पाँच सौ अप्सराओं के दिलाने के लिए जो भगवान् जामिनी बने थे उसे जाने दें; मुझे अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई।" इस पर भगवान् के मुख से उदान के ये शब्द निकल पड़े—"जो कीचड़ को पार कर चुका, काम के काँटों को तोड़ दिया, मोह का क्षय कर चुका और सुख-दुख से से लिप्त नहीं, वही सच्चा भिक्षु है।"[1]

इसी प्रकार, श्रावस्ती के जेतवन आराम में ही, भगवान् बुद्ध के रहते समय की एक अन्य घटना मेघियवर्ग के आठवें सुत्त में निम्न रूप बतलायी गई मिलती है—उस समय लोग भगवान् का बड़ा

---

१. अनु० भिक्षु जगदीश कश्यपः उदान (भारतीय महाबोधि सभा, सारनाथ) पृ० ३६-३३।

आदर संमान करते थे और चीवर, पिण्डपात, शयनासनादि उन्हें बराबर प्राप्त होते रहते थे। तदनुसार भिक्षु-संघ का भी बड़ा संमान था। परंतु दूसरे मत के साधुओं को यह बात अच्छी नहीं लगती थी और वे ईर्ष्यावश बराबर जलते-भुनते थे। अतएव, एक दिन वे लोग किसी 'सुंदरी' नाम की परिव्रांजिका के यहाँ गये और, उससे अपनी भलाई कराने का वचन लेकर, उसे जेतवन जाने के लिए राजी कर लिया। परंतु जब उसने अपने यहाँ से प्रस्थान कर दिया और वह मार्ग से जा रही थी कि इन लोगों ने उसे कहीं एकांत में जान से मार कर जेतवन के निकट किसी गढ़े में छिपा दिया और उसके कहीं न दीख पड़ने की सूचना कोसल के राजा प्रसेनजित् को दे दी। राजा के यह पूछने पर कि आप लोगों को उसके विषय में क्या संदेह है इन्होंने यह भी कह दिया कि वह जेतवन में कहीं हो सकता है। तत्पश्चात् राजा के अनुमति लेकर ये फिर जेतवन की ओर गये और वहाँ के गढ़े से सुंदरी परिव्राजिका के मृत शरीर को निकाल और उसे बाँस के ठट्ठर पर सुलाकर, श्रावस्ती नगर की गलियों एवं चौराहों से होकर घूमने लगे जब ये किसी चौराहे तथा गली से होकर निकलते तो सभी को सुनाकर कहने लगते, "भाई, बौद्ध भिक्षुओं की करतूत को देखो; ये बड़े निर्लज्ज है, दुःशील हैं, पापी हैं, झूठे हैं व्यभिचारी हैं, लोग इन्हें बड़ा धर्मात्मा 'संयमी' ब्रह्मचारी, सच्चे, शीलवान् और पुण्यवान् समझ बैठे हैं।......... व्यभिचार करने के बाद स्त्री को जान से मार डालना, इन्हें उचित नहीं था।" लोग इन बातों को सुनकर, स्वभावतः, भिक्षुओं पर बिगड़ते और उन्हें देखते ही कड़े और असभ्य शब्दों में उन्हें पुकारते आदि गालियाँ तक देने लग जाते। जिन भिक्षुओं को इन बातों का अनुभव हुआ उन्होंने इसकी सूचना जाकर भगवान् बुद्ध को दे दी और उन्हें इन्होंने इनका पूरा विवरण भी दे दिया। भगवान् बुद्ध ने इस पर कहा, "भिक्षुओं, यह बात बहुत दिनों तक नहीं रहेगी,

केवल सप्ताह भर तक रह बंद हो जायगी, इसलिए जो गालियाँ दे उनसे केवल इतना ही कह दिया करो—"झूठ बोलने वाले नरक में पड़ते हैं और वे भी जो करके कहते हैं, 'हमने नहीं किया'। मृत्यु के बाद परलोक में दोनों नीच काम करने वालों की गति एक समान हुआ करती है।" तदनुसार लोगों के मन में क्रमशः यह भावना जगने लगी "इन बौद्ध भिक्षुओं ने ऐसा नहीं किया होगा।" ये बराबर सौगंध खाया करते हैं।" जिस पर भिक्षुओं को महान् आश्चर्य हुआ। इसका हाल सुनकर भगवान् के मुख से ये शब्द निकले—"अविनीत पुरुष दूसरों के कहने से भड़क ही जाते हैं, जैसे संग्राम में पैठा हाथी बाण लगने पर। अतएव, भिक्षुओं को चाहिए कि कड़े वचन सुनकर अपने मन में किसी प्रकार का द्वेष-भाव न लायें और उन्हें सहज भाव से सह लिया करें[१]"

'उदान' का छठा वर्ग 'जात्यंध वर्ग कहलाता है क्योंकि उसके दशों सुत्तों में से सबसे महत्व पूर्ण चौथा 'सुत्त' जात्यंन्ध पुरुषों की ही एक कथा से सम्बंध रखता है। इस सुत्त में कहा गया है कि जिस समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में विहार कर रहे थे उस समय उधर नाना मतवादों का बड़ा जोर था। उन दिनों के श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक भिक्षाटन के लिए श्रावस्ती में घूमा करते थे और, विभिन्न मिथ्या वादों के कारण, आपस में लड़ते-झगड़ते रहा करते थे। कुछ श्रमण और ब्राह्मण कहा करते थे—"लोक शाश्वत है, यही सत्य है, दूसरा नितांत झूठ है" अन्य कहते थे—"लोक अशाश्वत है, यही सत्य है, दूसरा नितांत झूठ है" फिर तीसरे कहते—"लोक सांत है, यही सत्य है, दूसरा नितांत झूठ है" चौथे कहते थे—"लोक अनंत है, यही सत्य है, दूसरा नितांत झूठ है;" पाँचवें कहते थे—जो जीव है वही शरीर है, यही सत्य है, दूसरा

---

१ उदान (वही) पृ० ५६-६२।

नितांत झूठ है" छठें कहते थे—"जीव दूसरा है और शरीर दूसरा" इत्यादि, सातवें कहते थे—"मरने के अनंतर तथागत (आत्मा) बना रहता है" आठवें कहते थे—"मरने के अनंतर तथागत (आत्मा) बना नहीं रहता," और, इसी प्रकार यदि कोई और थे—"मरने के अनंतर तथागत (आत्मा) रहता भी है नहीं भी तो दूसरे कह उठते थे—"मरने के अनंतर तथागत (आत्मा) न रहता है, न नहीं रहता है" और इन जैसे मतभेदों के कारण, वे आपस में कठोर वचनों का प्रयोग करते रहते थे। एक दिन संघ के कुछ भिक्षुओं ने जो भिक्षाटन के लिए श्रावस्ती में गये हुए थे, ऐसे झगड़ों के अनर्थ का अनुभव किया और उन्होंने भगवान् बुद्ध के यहाँ आकर इस बात की सूचना दी तथा, इस प्रकार, उनसे उन्होंने इसका मूल कारण जानने की भी इच्छा प्रकट की। भगवान् बुद्ध ने उनके पूछने पर उत्तर दिया—"भिक्षुओं, ये साधु और परिव्राजक अंधे, बिना आँख वाले अर्थानर्थ वा धर्माधर्म को कुछ भी नहीं जानते हैं। अर्थानर्थ वा धर्माधर्म को न जानने के कारण ही में लड़ा करते हैं। भिक्षुओं, आज से बहुत पहले इसी श्रावस्ती में एक राजा रहता था जिसने किसी पुरुष को आमंत्रित कर उससे कहा कि श्रावस्ती के सभी जात्यंधों को इकट्ठा करो। उस पुरुष ने जब राजा की इस आज्ञा का पालन कर दिया तो फिर उसे दूसरी आज्ञा हुई कि इन सभी जात्यंधों (जन्म से अंधों) को कोई हाथी दिखलाया जाय इसके अनंतर यह भी किया गया और उन सभी में से किसी को हाथी का सिर, किसी को कान, किसी को दांत, किसी को सूँड, किसी को पैर, किसी को पूँछ, किसी को शरीर तथा किसी को पूँछ के बाल मात्र का स्पर्श कराकर फिर एक बार उस राजा के यहाँ उनके विषय सूचित किया गया। तब राजा स्वयं उठ कर उन जात्यंधों के पास गया और उनमें से प्रत्येक से प्रश्न करने लगा। उसने सभी से क्रमशः एक ही प्रश्न किया "सूरदास क्या हाथी देख लिया?" किन्तु उनमें से प्रत्येक ने अपने अपने अनुभव के

अनुसार उसे भिन्न-भिन्न उत्तर दिये। जिन जात्यंधों ने हाथी का सिर पकड़ा था उन्होंने कहा "देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई बड़ा घड़ा हो" जिन्होंने उसके कान पकड़े थे उन्होंने बतलाया "देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई सूप" जिन्होंने उसके दांत पकड़े थे उन्होंने कहा "देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई खूँटा वा हल का फाल; जिन्होंने उसका सूँड पकड़ा था उन्होंने कहा "देव, हाथी ऐसा है—जैसे हल में जुड़ा बाँस का 'हरिस' जिन्होंने उसके शरीर को पकड़ा था उन्होंने कहा —"देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई 'कोठा' वा धान की कोठी," जिन्होंने उसके पैर पकड़े थे उन्होंने बतलाया "देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई ठूँठ पेड़," जिन्होंने उसकी पूँछ पकड़ी थी उन्होंने कहा—"देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई सोंटा" और जिन्होंने केवल उसकी पूँछ के बालों का स्पर्श किया था उन्होंने उत्तर दिया, "देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई झाड़ू" और ऐसा कह कर वे एक दूसरे के विरोध में कटु शब्दों का व्यवहार करने लगे तथा परस्पर मार-पीट भी करने लग गए। भिक्षुओं, राजा उन जात्यंधों की इस मूर्खता को देखकर खूब हँसा और वही बात इन श्रमणों एवं ब्राह्मणों के "धर्म ऐसा है, वैसा नहीं" कहने तथा यह कहकर लड़ने के सम्बंध में भी की जा सकती है।" भगवान् बुद्ध के मुख से फिर ये उदान के शब्द भी निकले—"कितने श्रमण और ब्राह्मण इसी में जूझते रहते हैं और धर्म के केवल एक अंग को देखकर ही विवाद करते हैं।"[1]

किस प्रकार भगवान् बुद्ध के प्रभाव में आकर न केवल व्यक्ति विशेष *, प्रत्युत किसी वर्ग के सभी व्यक्तियों तक के आचरण एवं-रहन-सहन में अंतर आ जाता था और वे अपने को सदा के लिए सँभाल एवं सुधार लिया करते थे इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण हमें वग्गुमुदा नदी के तीर पर निवास करने वाले भिक्षुओं की उस कथा

१, उदान, वही, पृ० ९०-९४।

में मिलता है जो 'उदान' के तीसरे अथवा 'नंद वर्ग' के तीसरे सुत्त के आरंभ में, उसका प्रसंग बनकर, आती है। कहते हैं कि जिस समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के अनाथपिण्डिक वाले जेतवन के आराम में विहार कर रहे थे, उस समय आयुष्मान् यशोज पाँच सौ भिक्षुओं के साथ वहाँ उनके दर्शनों के लिए आये और वहाँ पहुँच कर आगंतुक भिक्षु वहाँ के भिक्षुओं के साथ मिलते-जुलते, ठहरने का स्थान देखते तथा पात्र-चीवर सँभालते ऊँचे शब्द करने लग गए और वैसे शोरगुल की भनक के कान में पड़ते ही भगवान् ने आनंद को बुलाकर पूछा—"आनंद, यह शोरगुल कैसा—मानो मछुए मछली मार रहे हों?"। तब आनंद ने उन्हें बतलाया कि किस प्रकार आयुष्मान् अशोज के साथ पाँच सौ भिक्षु वहाँ भगवान् के दर्शनों के लिए आये हुए हैं और एक दूसरे से मिलते-जुलते, ठहरने का स्थान देखते तथा चीवर एवं पात्र को सँभालते समय ऊँचे शब्द कर रहे हैं। भगवान् बुद्ध ने यह सुनकर आनंद द्वारा उन भिक्षुओं को बुलवाया और जब उनसे पूछने पर फिर उसी प्रकार का उत्तर मिला तो उन्होंने उनसे कहा "जाओ भिक्षुओं, मैं तुम्हें चले जाने को कहता हूँ। मेरे साथ तुम मत रहना।" इस पर वे सभी भिक्षु वहाँ से भगवान् को प्रणाम करके चले गए और वज्जी जनपद की ओर घूमते-फिरते क्रमशः वग्गुमुदा नदी के तट पर पहुँच गए। उन भिक्षुओं ने तब वहीं रहकर वर्षावास (चौमासा) किया और वहाँ यशोज ने उन्हें बतलाया कि भगवान् को संतुष्ट रखने के लिए हमें किस प्रकार संयत रूप में रहना चाहिए। भिक्षुओं ने, इस प्रकार, वहाँ रहकर संयत जीवन का पूरा अभ्यास किया और वर्षावास (चौमासा) के ही भीतर तीनों विद्याओं का साक्षात्कार भी कर लिया। तत्पश्चात् जब श्रावस्ती में रहकर भगवान् वैशाली की ओर भ्रमण करते हुए पहुँचे और वहाँ महावन की कूटागार शाला में विहार करने लगे तो उन्होंने वग्गुमुदा नदी के तीर वाले उन भिक्षुओं को एक बार स्मरण किया और

आनंद से कहा कि किसी दूत को भेज कर उन्हें यहाँ मेरे पास बुला लो। तदनुसार एक भिक्षु उनके यहाँ भेजा गया और वे चले आये। परंतु जब वे आये तो भगवान् चौथे ध्यान में लीन थे, इस लिए उन्हें कोई बाधा न पहुँचाकर वे स्वयं भी वहीं ध्यान में बैठ गए। जब रात का पहला याम बीत गया और भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं से कुछ भी बातचीत न की तो आनंद ने उन्हें इनके आने की सूचना दी जिसके उत्तर में वे मौन रहे और, इसी प्रकार, बिचला याम निकल जाने पर भी हुआ। फिर जब तीसरा याम भी निकल गया और आनंद ने फिर भी एक बार भिक्षुओं के आ जाने की उन्हें सूचना दी तो भगवान् ने कहा—"आनंद, यदि तुम जानते तो अभी भी कुछ नहीं कहते। आनंद, मैं और ये सभी पाँच सौ भिक्षु चौथे ध्यान में लीन होकर बैठे थे" और ऐसा करते ही उनके मुख से उदान के ये शब्द निकल पड़े—"जिसने कामरूपी कंटक, क्रोध और हिंसा, सभी को जीत लिया है, वह पर्वत के जैसा अचल रहा करता है और उस भिक्षु को कभी सुख वा दुःख नहीं सताया करते।[1]

'उदान' के सर्वाधिक मार्मिक प्रसंगों में हम उसके आठवें वर्ग (पाटलि ग्राम वर्ग) के पाँचवें सुत्त की कथा की गणना कर सकते हैं जिसमें भगवान् बुद्ध के चुंद सुनार के यहाँ अंतिम भोजन करने की चर्चा की गई है और जो कई दृष्टियों से बहुत महत्व पूर्ण भी समझी जाती है। एक समय भगवान् बड़े भारी भिक्षु-संघ के साथ मल्लों में भ्रमण करते हुए जहाँ 'पावा' ग्राम है वहाँ पहुँच गए और वहीं चुंद नामक सुनार के आम्रवन में विहार करने लगे। चुंद ने जब उनका अपने आम्रवन में ठहरना सुना तो वह उनके निकट पहुँचा और उपदेश पा लेने पर उनसे कहा "भन्ते, भगवान् भिक्षु-संघ के साथ कल मेरे

१. उदान, वही, पृ० ३३-३७।

घर भोजन करना स्वीकार करें।" भगवान् की मौन स्वीकृति पा लेने पर फिर वह अपने घर गया और 'सूकर मद्दव'[1] तथा अन्य अनेक अच्छे भोजन तैयार कर, समय पर, भगवान् को उसने बुला भेजा। भगवान् जब वहाँ पहुँचे तो बिछे आसन पर बैठ गए और चुंद को बुलाकर कहा, "चुंद, जो तुमने 'सूकर मद्दव' तैयार किया है उसे मुझे ही परोस, भिक्षु-संघ को दूसरे भोजन दे" चुंद ने तब वैसा ही किया और, भगवान् के यह कहने पर कि 'उस सूकर मद्दव को बुद्ध को छोड़कर दूसरा कोई नहीं पचा सकता, बचे अंश को फेंक आओ', उसने फिर यह भी कर दिया। तत्पश्चात् भगवान् बुद्ध ने उसके यहाँ भोजन किया और उसे धर्मोपदेश करके वहाँ से चले गए। तब चुंद सोनार के भोजन को खाकर भगवान् को कड़ी बीमारी उठी, खून के दस्त आने लगे और प्राणों को हर लेने वाली भयंकर वेदना भी आरंभ हो गई। भगवान् उसे सहन करने लग गए और आनंद को बुलाकर उन्होंने कहा "आनंद, जहाँ कुसिनारा है, वहाँ मैं जाऊँगा" और जब वे उधर चले तो मार्ग में एक वृक्ष मूल के निकट जा कर बोले, "आनंद, यहाँ आओ, संघाटी को चपोत कर बिछाओ, बहुत थक गया हूँ, बैठूँगा।" फिर उन्होंने आनंद से, बिछे आसन पर बैठते ही, यह भी कहा "आनंद, जाओ, कहीं से पानी लाओ पीऊँगा, आनंद, पीऊँगा।"

भगवान् के ऐसा कहने पर आनंद ने उनसे निवेदन किया "भन्ते,

---

१. 'सूकर मद्दव' का अर्थ 'महा अट्ठकथा' में' सूअर का मृदु मांस किया गया मिलता है जहाँ दूसरे लोग कहते है कि वह वस्तुतः 'सूअर द्वारा मर्दित वंसकलीर' के लिए आया है। कुछ लोग, इसी प्रकार, उसे 'सूअर से मर्दित स्थान में उत्पन्न हुए छत्ते का डंठल' समझते हैं तो अन्य लोग कहते हैं कि वह एक प्रकार का रसायन था जिसे चुंद ने और जीने के लिए खिलाया था।

अभी तुरंत ही पाँच सौ गाड़ियाँ पार हुई हैं जिनके चक्कों से हिंडोरा जाकर पानी मैला और गँदला हो गया है। पास ही कुकुट्ठा नदी बहती है जिसका जल स्वच्छ, शीतल, स्वास्थ्यकर और पवित्र है : भगवान् वहाँ चलकर पानी पियें और गात्र को भी शीतल करें।" इस पर भगवान् ने फिर कहा "आनंद, जाओ कहीं से पानी लाओ पीऊँगा, आनंद पीऊँगा" और जब इसके भी उत्तर में आनंद ने वे ही बातें कही तो इसे उन्होंने फिर तीसरी बार दोहराया। इस पर "भन्ते, बहुत अच्छा" कहकर आनंद ने पात्र उठाया और वे उस गँदले पानी वाली नदी की ओर ही चले गए, किन्तु आश्चर्य है कि उसका पानी उन्हें स्वच्छ मिला। जब भगवान् ने पानी पी लिया तो वे फिर उस बड़े भारी भिक्षु-संघ के साथ कुकुट्ठा नदी की ओर भी गये और उन्होंने उसमें बैठकर स्थान किया और कुल्ला किया। फिर उस नदी को लाँघ कर वे जहाँ आम्रवन था वहाँ आये और चुंद सोनार को बुलाकर बोले चुंद, यहाँ आओ, संघाटी को चपोत कर बिछाओ, चुंद, मैं बहुत थक गया हूँ, लेटूँगा। "तब चुंद ने उनकी आज्ञा का पालन किया और भगवान् दाहिनी करवट, पैर पर पैर रख, सिंह शय्या लगाकर लेट गए—सचेत और स्मृतिमान् भी हो गए। चुंद भी सामने बैठ गया। भगवान् ने आनंद से कहा, "कदाचित् चुंद सोनार को यह पछतावा न हो कि "मेरा अलाभ हुआ, मेरा भाग्य बुरा हुआ जो बुद्ध मेरा ही अंतिम भोजन खाकर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। आनंद यदि चुंद को ऐसा ही पछतावा हो तो उसे समझा बुझा देना आवुस चुंद, तुम्हारा लाभ हुआ, तुम्हारा भाग्य जागा कि बुद्ध तुम्हारे ही अंतिम भोजन को खाकर निर्वाण को प्राप्त हुए······दीर्घजीवी चुंद ने आयु देने वाला पुण्य कमाया है—वर्ण देने वाला, सुख देने वाला, स्वर्ग देने वाला, यश देने वाला और ऐश्वर्य देने वाला।" भगवान् ने इस प्रकार आनंद से चुंद का पछतावा हटा देने के लिए कहा और उनके मुख से उदान के ये शब्द भी निकल पड़े—"दान देने से

पुण्य बढ़ता है, संयम करने से वैर नहीं बढ़ने पाता। पुण्यवान् पाप को छोड़ देता है, राग-द्वेष मोह का क्षय हो जाने से वह परिनिर्वाण पाता है।"[1]

'उदान' के वचनों वाले सभी प्रसंग एक समान रोचक नहीं है और उनमें से अधिकतर अत्यंत लघु और अपर्याप्त भी जान पड़ते हैं फिर भी उनके महत्व में, इस कारण, कमी नहीं आती कि उनके द्वारा भगवान् बुद्ध के अत्यंत गूढ़ एवं गंभीर वचनों का भी रहस्योद्घाटन करने में हमें अच्छी सफलता मिल सकती है। 'उदान' के अंतर्गत भी जातकों, थेरी गाथाओं तथा थेर गाथाओं के ही समान, भगवान् बुद्ध की अलौकिक शक्तियों की ओर बराबर संकेत किया गया है और उनके द्वारा प्रदर्शित विविध चमत्कारों का उल्लेख भी किया गया है जिसके आधार पर कदाचित्, अंध-विश्वास एवं सांप्रदायिकता का भी दोष लगाया जा सके। परंतु, इसमें संदेह नहीं कि जहाँ तक प्राचीन भारत के ऐतिहासिक जन-जीवन का सम्बंध है उसके उपयुक्त अध्ययन में बौद्धों के धार्मिक साहित्य से भी बहुत बड़ी सहायता ली जा सकती है।

---

१. उदान, वही, पृ० १११-११७

चौरासी सिद्ध और उनके संप्रदाय

(१)

'सिद्ध' शब्द के प्रयोग, हमारे प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः दो प्रकार के मिलते हैं। 'अमरकोश' में सिद्ध नाम की किसी एक दिव्य जाति की चर्चा की गई है जो यक्षों, गंधर्वों, किन्नरों, गुह्यकों, आदि जैसी है और जिसकी गणना देव-योनि में की जाती है।[1] ऐसी ही सिद्ध जाति की स्त्रियों का प्रसंग महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' में आता है जहाँ पर उन्होंने उनका वायु-वेग से अग्रसर होते हुए मेघों की ओर भोलेपन के साथ देखना और चकित होना बतलाया।[2] इसी प्रकार महाकवि वाल्मीकि रचित कहे जाने वाले प्रसिद्ध स्तोत्र 'गंगाष्टक' में भी निर्मल गंगाजल में स्नान करनेवाली स्त्रियों में, गंधर्व, अमर एवं किन्नरों की भाँति सिद्ध बधुओं का भी उल्लेख मिलता है।[3] पुराणों के अनुसार इस जाति के लोगों का निवास-स्थान भुवर्लोक समझा जाता है और कभी-कभी अंतरिक्ष भी बतलाया जाता है। इनके लिए यह भी प्रसिद्ध है कि इनकी संख्या अट्ठासी सहस्र की है

---

१. विद्याधराप्सरो यक्षरक्षो गंधर्व किन्नराः ।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥

—अमरकोश (१-११)

२. अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः ।
दृष्टोत्साहश्चकित चकितं मुग्ध सिद्धाङ्गनाभिः ॥

—पूर्व मेघदूतम् (१३)।

३. गन्धर्वामर सिद्ध किन्नर वधू तुङ्गस्तनास्फालितम् ।
स्नानाय प्रति वासरं भवतु मे गङ्गा-जलं निर्मलम् ॥

—गङ्गाष्टक ।

और ये अमर भी हुआ करते हैं। परंतु कहीं-कहीं गंधर्वों वा किन्नरों की भाँति इनके हिमालय पर्वत पर भी रहने का अनुमान किया गया मिलता है और महाकवि कालिदास का भी उपर्युक्त संकेत संभवतः किसी पर्वतीय जाति की ओर ही उद्दिष्ट जान पड़ता है। श्री सी० वी० वैद्य के अनुसार भी सिद्धों का निवास-स्थान हिमालय प्रदेश का दक्षिणी ढाल ही हो सकता है।[1]

'सिद्ध' शब्द का एक दूसरा प्रयोग ऐसे लोगों के लिए किया गया मिलता है जो योग वा तप जैसी साधनाओं द्वारा सिद्धि प्राप्त कर मुक्त दशा तक पहुँचे हुए समझे जाते रहे हैं और जिनकी गणना, इसी कारण, बहुधा महर्षियों के साथ भी की जाती रही है। श्री मद्भगवद् गीता के अंतर्गत ऐसे सिद्धों वा महर्षियों के साथ-साथ विराट् रूप के प्रति स्वस्ति-वादन करना तथा स्तुति-गान में प्रवृत्त होना कहा गया है।[2] इसके सिवाय उसी ग्रन्थ में श्रीकृष्ण का यह कथन भी मिलता है कि विभूतिमान् सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ।[3] गोस्वामी तुलसीदास ने तो सिद्धों को विरक्तों, महामुनियों एवं योगियों के साथ स्पष्ट शब्दों में गिना है और उन्हें 'सदा काम के चेरे' समझे जाने वाले देव, दनुज, नर एवं किन्नरादि से भिन्न श्रेणी में स्थान दिया है।[4] इसी प्रकार उनके एक मंगलाचरण वाले श्लोक में भी पाया जाता है कि सिद्ध लोग

---

1. C. V. Vaidya : The Riddle of the Ramayan, p94.

२. स्वस्ती त्युक्त्वा महर्षि सिद्ध संघाः स्तुवन्ति।
   त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥—गीता (११-२१)।

३. सिद्धानां कपिलो मुनिः।—वही (१०-२६)।

४. देव दनुज नर किन्नर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला॥
   इन्हकै दसा न कहेउ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥
   सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भए वियोगी॥
   —रामचरित मानस (बा० का०)

अपनी श्रद्धा एवं विश्वास की सहायता से 'स्वान्तःस्थ ईश्वर' का साक्षात् कर लेते हैं।[1]

इसके सिवाय 'सिद्ध' शब्द उन लोगों के लिए भी प्रयुक्त होता आया है जो रसेश्वर सिद्धांतों के अनुयायी होने के कारण 'रसेश्वर सिद्ध' के नाम से प्रसिद्ध थे। ये लोग अंतर्वेद प्रदेश के निवासी थे और इनका विश्वास था कि पारे की रसायन-क्रिया द्वारा कायाकल्प कर शरीर को अमरत्व प्रदान किया जा सकता है। पारा वा पारद इनकी क्रिया का प्रधान रस था और वह साधक को संसार सागर के दूसरे पार तक पहुँचानेवाला समझा जाता था।[2] इन सिद्धों की संभवतः नव पृथक्-पृथक् परंपराएँ थीं जिसमें नव कोटि सिद्धों का पाया जाना बतलाया जाता है।[3] परंतु कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि ये नव कोटि सिद्ध वस्तुतः उस प्रसिद्ध चीनी ताओ-धर्मी भोग द्वारा प्रभावित थे जो अपने देश से ईसा के पूर्व की किसी शताब्दी में यहाँ यात्री होकर आया था। उस भोग ने दक्षिण भारत के शैवागम एवं शाक्तागम वालों को 'शुद्ध मार्ग' की शिक्षा दी जिस कारण वहाँ के आगमी सिद्धों पर कुछ न कुछ ताओ धर्म का भी प्रभाव पड़ गया।

---

१. भवानी शंकरौ वंदे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति,सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्
—रा० च० मा०—बा० का०

२. संसारस्यपरंपारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः।

३. ऐसे सिद्धों को हिंदू तंत्रों में कहीं-कहीं दिव्यौघ, मानवौघ एवं सिद्धौघ नामक तीन वर्गों में विभाजित किया गया भी मिलता है जैसे "दिव्यौघाश्च मानवौघाश्च सिद्धौघाश्च समागताः।" ललिता सहस्र नाम (बंबई १९१९) और तारारहस्य, कौलावली तंत्र एवं श्यामा-रहस्य आदि में इनमें से कुछ नाम भी दिये गए मिलते हैं। दे० क्रमशः पृ० ११५, पृ० ७६ एवं पृ० २४)।

इस शुद्ध मार्ग के अनुयायी सिद्धों में सर्व प्रसिद्ध 'अष्टादश सिद्ध' समझे जाते हैं और उनमें शैवभक्त मणिवाचक, वागीश, ज्ञान सम्बंध एवं सुंदर की भी गणना की जाती है। ये शुद्ध मार्गी लोग ज्ञान-सिद्धों के नाम से भी अभिहित किये जाते हैं और कहा जाता है कि ये अमर हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि उक्त भोग अगस्त्य का समकालीन था जो आजकल के तिनेवली जिले में वर्तमान सिद्धकूट पर्वत पर रहा करते थे। शुद्ध-मार्गियों के इस प्रदेश तक उत्तरी भारत के गुरु गोरखनाथ भी ईसा की १० वीं शताब्दी में आये थे और सभी नवनाथ वहाँ से न्यूनाधिक प्रभावित थे जिस कारण उन्हें कभी-कभी नाथ-सिद्ध भी कहा जाता है। शुद्ध मार्गी ज्ञान-सिद्धों के अनुसार पूर्ण सिद्ध वही कहला सकता है जो अपने शरीर को काय-साधनों द्वारा पूर्णतः वश में किये रहता है और जो इस प्रकार अदृश्य रूप में सदा अमर बना रहता है।[1]

परंतु चौरासी सिद्धों को हम उपर्युक्त काल्पनिक वा अर्द्ध काल्पनिक वर्गों में से किसी एक में भी नहीं रख सकते। ये सिद्ध एक नितांत भिन्न प्रकार से चिंतन करने वाले, नवीन ढंग की साधनाओं में प्रवृत्त रहने वाले तथा एक विचित्र प्रकार की रहन-सहन के साथ जीवन व्यतीत करने वाले ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनकी परंपरा का सम्बंध बौद्ध धर्म और विशेषकर उसके महायान संप्रदाय के साथ जुड़ा हुआ था और ये वज्रयान के अनुयायी एवं सहजयान के समर्थक थे तथा इनमें से कुछ लोग काल-चक्रयान में भी सहयोग प्रदान करते थे। ये कदाचित् योगशास्त्रानुमोदित साधना-प्रणाली से परिचित थे, किन्तु इनकी सिद्धता का आधार केवल योग-दर्शन में बतलायी गई 'समाधिज' अणिमादिक

1 Jyotirbhushan V. V. Raman Sastri: The Doctrinal Culture and Tradition of the Siddhas. (Cultural Heritage of India Vol II, pp 313-17.)

सिद्धियाँ[1] ही नहीं थी। इनके सम्बंध में हम उतने निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि इन्होंने उसमें उल्लिखित जन्मौषधि मंत्र तथा तपोजन्य सिद्धियाँ भी प्राप्त की थी वा नहीं। ये सिद्धियाँ भी वस्तुतः वे ही हैं जो योगियों को समाधि द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। पुराणों एवं तंत्रों में कुछ इस प्रकार की सिद्धियों की भी चर्चा आती हैं जो कतिपय अलौकिक साधनों द्वारा उपलब्ध की जा सकती है और जिन्हें अंजन, पादुका, गुटिका, धातु-भेद, बेताल, वज्र, रसायन एवं योगिनी की सहायता से प्राप्त की जाने वाली सिद्धियों के नाम से अभिहित किया जाता है। तांत्रिक साधना करने वाले कापालिक लोग बहुधा इसी प्रकार की सिद्धियों के फेर में रहा करते थे और उन्हीं के आदर्शों पर बड़े-बड़े महात्माओं के अनुयायी उनकी अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन किया करते थे। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की रचना 'सत्य हरिश्चंद्र' नामक नाटक में कापालिक वेषधारी धर्म द्वारा उक्त सिद्धियों की उपलब्धि बड़े गर्व के साथ बतलायी गई है[1] और संतों एवं महापुरुषों के श्रद्धालु जीवनी-लेखकों ने इस प्रकार की चमत्कार भरी बातों को अपनी रचनाओं के अंतर्गत महत्व देना अभी तक नहीं छोड़ा है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'श्रीगुरु पद नख मणिगन जोती' के स्मरण मात्र द्वारा हृदय में उत्पन्न हो जाने वाली 'दिव्य दृष्टि' का वर्णन करते समय उस 'सुअंजन' का भी उल्लेख कर दिया है जिसे अपनी आँखों में आँज कर न केवल साधक मात्र अपितु 'सिद्ध' एवं 'सुजान भी गुप्त धन

---

१. जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः।

योगदर्शन (कैवल्यपाद, १)

२. अंजन गुटिका पादुका, धातुभेद बेताल।
वज्र रसायन जोगिनी, मोहिं सिद्ध यहि काल॥

—सत्य हरिश्चंद्र, अं० ४।

देखा करते हैं ।[1]

'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है कि महामुद्रा, महाबन्ध, महा-वेध, खेचरी, उड्यान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली तथा शक्ति-चालन नाम की दस मुद्राएं प्रसिद्ध हैं जिनका प्रचार स्वयं आदिनाथ ने किया था और जो सभी सिद्धों को प्रिय हैं। इन दशों को ग्रन्थकार ने रत्नों की पिटारी के समान परमगोप्य बतलाया है और इन्हें सर्वसाधारण क्या मरुतों तक के लिए दुर्लभ माना है ।[2] चौरासी सिद्धों में भी ये साधनाएँ अवश्य प्रचलित रही होंगी, क्योंकि इनमें से कुछ के प्रसंग वज्रयानी ग्रन्थों में भी मिलते हैं। इसके सिवाय इन दसों में से कम से कम एक अर्थात् जालंधरबंध का विशेष सम्बंध सिद्ध जालंधरीपा के साथ समझा जाता है। वज्रयानियों के अनुसार सिद्धत्व किन्हीं दुष्कर वा कठोर नियमों के पालन से नहीं मिलता, प्रत्युत सारी उपभोग्य वस्तुओं के सेवन से ही उपलब्ध होता है ।[3] इसी कारण

---

१. जथा सुअंजन आंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान ।
कौतुक देखत सैल बन, भूतल भूरि निधान ॥
—रा० च० मा०, बालकांड, अष्टक १

२. महामुद्रा, महाबंधो, महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबंधश्च, बंधो जालंधराभिधः ॥६॥
करणी विपरीताख्या, वज्रोलीशक्ति चालनम् ।
इदंहि मुद्रादशकं, जरामरण नाशनम् ॥
आदि नाथोदितं दिव्यं, अष्टैश्वर्य प्रदायकम् ।
वल्लभंसर्वं सिद्धानां, दुर्लभं मरुतामपि॥८॥
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् । इत्यादि—ह० प्र०, पृ० ७६-७

३. पुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, सेव्यमानो न सिद्ध्यति ।
सर्वं कामोपभोगैस्त, सेवयंश्चाशु सिद्ध्यित ॥
—गुह्यसमाजतंत्र, सप्तमपटल, पृ० २७

उन्होंने अपनी प्रमुख साधनाओं के अंतर्गत विविध प्रकार की स्त्रियों को महामुद्रा बनाने का भी आयोजन किया था। उनका कहना था कि ऐसा करते समय किसी साधक को स्त्रियों के कुल, जाति अथवा उनके साथ अपने निजी सम्बंध तक का विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रज्ञापारमिता, वास्तव में, ललना का रूप धारण कर सर्वत्र एक समान वर्तमान समझी जाती है[1] और जुगुप्सित अर्थात् निंद्यकुल में उत्पन्न स्त्री का इसके लिए स्वीकार किया जाना कुछ अधिक महत्त्व रखता है; उसके द्वारा कुछ और भी शीघ्रता के साथ सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।[2] इसलिए प्रसिद्ध है कि चौरासी सिद्धों में से प्राय: सभी ने अधिकतर अंत्यजों की कन्याओं को ही महामुद्रा बनाकर अपनी साधना की थी। ये महामुद्राएँ उनकी सहचरियों की भाँति योगिनों के रूप में उनके साथ रहा करती थीं और इस प्रकार अभ्यास कर लेने पर ही उन्हें सिद्ध समझा जाता था।

परंतु इन सिद्धों की प्रवृत्ति बहुधा सहजयान की ही ओर अधिक रहा करती थी, इस कारण, प्रारंभ में इनके संस्कार मूल वज्रयान के अनुसार चाहे जैसे भी बन चुके हों, इनका मुख्य उद्देश्य सहज-साधना का प्रचार था। उन्होंने डोम्बी, चांडाली जैसी योगिनियों के नाम अवश्य लिये हैं और उनके प्रति अपनी श्रद्धा भी प्रदर्शित की है, किन्तु ऐसे स्थल अधितकर उनके परंपरा-पालन अथवा अधिक से अधिक एक प्रकार के कृतज्ञता प्रकाशन के ही द्योतक जान पड़ते हैं।

---

१. प्रज्ञा पारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकाङ्क्षिभिः ॥२२॥
ललना रूप मा-स्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता ॥२३॥
—प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, पृ० २२।

२. चाण्डालकुल सम्भूतां, डोम्बिकां वा विशेषतः।
जुगुप्सित कुलोत्पन्नां, सेवयन् सिद्धि माप्नुयात् ॥८२॥
—ज्ञानसिद्धि, पृ० ३१।

एकाध सिद्धों ने ऐसी साधना के लिए निरे 'सुरतविलास' जैसे शब्द का भी प्रयोग किया है[1] जिससे उसका उच्च कोटि की साधना कहलाना सिद्ध नहीं होता। फिर भी इन सिद्धों की साधना वैष्णव सहजिया संप्रदाय की वैसी साधना से मूलतः भिन्न थी। सिद्धों का प्रधान उद्देश्य इसके द्वारा अपनी मानसिक वृत्तियों को विकसित और परिष्कृत कर अपने चित्त को शुद्ध, निर्मल एवं सहज रूप प्रदान करना था, जहाँ वैष्णव सहजिया पंथ के अनुयायी उसकी सहायता से अपने हृदय के भीतर विशुद्ध प्रेम का भाव जाग्रत किया करते थे। सिद्ध लोग महामुद्रा के प्रति अपने आकर्षण का अनुभव किसी हार्दिक भाव के रूप में नहीं करते थे, यह उनके लिए केवल चित्त-शुद्धि क्रिया में आवश्यक और स्वाभाविक एक मानसिक प्रवृत्ति वा भावना मात्र ही था। सिद्धों को भी बहुधा बौद्ध सहजिया कहा जाता है क्योंकि ये भी वैष्णवों के 'मधुर भाव' के समान ही 'युगनद्धरूपी सहजानंद' की कल्पना करते हैं। किसी प्रकार की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करना आवश्यक नहीं समझते, तांत्रिक विचार-धारा से बहुत कुछ प्रभावित जान पड़ते हैं, अपने गुरुओं के प्रति पूरी आस्था रखा करते हैं और सर्वत्र समानता के ही भावों का प्रदर्शन अपना कर्तव्य मानते हैं।[2] परंतु वैष्णव सहजिया के अनुयायियों की प्रत्येक साधना जहाँ, प्रधानतः किसी अलौकिक ईश्वरीय भावना द्वारा अनुप्राणित रहा करती है, वहाँ बौद्ध सहजिया वाले सिद्धों को इन बातों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है। ये तो भ्रमों से परिच्छिन्न इस प्रपंचमय संसार में भी अपने 'उजूवाट' वा सीधे मार्ग के ही पथिक हैं और इन्हें अष्ट-सिद्धियाँ उस पर चलते समय आपसे आप मिल जाया करती हैं।[3]

---

१. कमल कुलिस वेवि मज्झठिउ जो सो सुरअ विलास ॥
—सरहपा का दोहाकोष, पृ० ६४।

२. एम्-एम् बोस : पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट, पृ० १३४-४७।

३. एषा अष्टमहासिधि सिज्झइ उजूवाट जायन्ते—शांतिपा।

सिद्धों की रचनाओं में अंजन, गुटिका, पादुका आदि अलौकिक साधनों के प्रयोगों की चर्चा नहीं पायी जाती। किन्तु अन्य उपर्युक्त बातों की ओर किये गए कुछ न कुछ संकेत इनमें प्रायः सर्वत्र मिला करते हैं और प्रतीत होता है कि ये लोग बेताल, वज्र, धातुभेद, रसायन एवं योगिनी की सहायता अपने निजी ढंग से लिया करते थे। इनका इन्होंने पूर्ण परित्याग नहीं किया था, कम से कम इनका सम्बंध इनमें से किसी न किसी के साथ पहले अवश्य रह चुका रहता था। उदाहरण के लिए सिद्धाचार्य कण्हपा का कहना है "मैं सहज क्षण का अनुभव करता हुआ अब 'मण्डल चक्क' से विमुक्त हो गया"[1] तथा "मैं इस बात को परमार्थरूप में कहता हूँ कि जिस किसी ने अपने चित्त को निज गृहिणी के साथ रहकर निश्चल बना लिया वही, वास्तव में, नाथ वा वज्रधर कहलाने योग्य हो जाता है।[2] इसी प्रकार वे अपने को, 'डोमिन' के ही कारण हड्डियों की माला धारण करने वाला 'कपाली' भी कहते हैं[3] और अन्यत्र अपना वर्णन 'कान्ह कपाली योगी' के रूपक द्वारा करते हैं।[4] सिद्ध भुसुकपा का भी कहना है कि मैं आज निज गृहिणी के रूप में चाण्डाली को ग्रहण कर पूरा बंगाली बन गया[5] और, इसी प्रकार, सिद्ध गुंडरीपा भी 'जोगिनी' को संबोधित

१. मण्डल चक्क विमुक्क, अच्छउँ सहज खणेहि ॥१८॥
—कण्हपा का दोहाकोष।

२. जेकिअ णिच्चल मण रअण, णिअघरिणी लइ एत्थ।
सोह वाजिर णाहुरे मयि वुत्तो परमत्थ ॥२१॥
—कण्हपा का दोहाकोष।

३. तूलो डोम्बी हाऊँ कपाली। तोहोर अन्तरे मोए घेणिलि हाड़ेरि माली। चर्या, १०।

४. वही, चर्या ११।

५. आजि भूसू बङ्गाली भइली। णिअ घरिणी चण्डाली लेली—चर्या ४६।

करते हुए बतलाते हैं "मैं तेरे बिना क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता।"[1] इसके सिवाय सिद्धाचार्य सरहपा के इस कथन से कि जिस किसी को जीवन एवं मरण के विषय में कोई आशंका हो वह रसायन क्रिया को अपनाये रहे, मैं तो दोनों को एक ही समझता हूँ तथा उन दोनों में से किसी में भी कोई विशेषता न पाकर 'उस अचिंत्य धाम' की ओर प्रवृत्त हूँ[2] उनके रसायन प्रयोग के साथ न्यूनाधिक परिचित होने की ध्वनि निकलती है।

फिर भी इन सिद्धों में से कोई भी उपर्युक्त बातों की ओर अधिक ध्यान देता हुआ नहीं दीख पड़ता। इनका मुख्य लक्ष्य सहज स्थिति में पहुँचकर सहज प्रवृत्ति के अनुसार जीवन-यापन करने का उपदेश देना जान पड़ता है। इसीलिए सिद्धाचार्य कण्हपा का कहना है "सिद्ध वह है जिसने अपने चित्त को समरस रूपी सहज में निश्चल कर दिया और इस प्रकार जरा-मरण से उसी समय मुक्त हो गया"[3]। इनके अनुसार यह स्थिति 'सअसंवेअन' (स्वयंसंवेदन) अथवा निर्भ्रांत पूर्णज्ञान की चरमावस्था है, जहाँ पहुँचकर सिद्ध लोग 'महासुख' में लीन हो जाते हैं। जैन मुनि रामसिंह ने भी कहा है "जिन लोगों में वेदपुराणादि वा भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के कारण उत्पन्न होने वाली कोई भ्रांति न रह जाय और जो ऐसी अवस्था तक पहुँचकर आनंद में मग्न रहने लगे उन्हीं को 'सिद्ध' कहना उचित है, अन्य को नहीं।"[4] ऐसे ही महा-

---

१. जोइनि तँइ बिनु खनहिं न जीवनि—चर्या ४।

२. वही, चर्या २२।

३. सहजे णिच्चल जेण किअ, समरस णिअमण राअ।
सिद्धो सो पुण तक्खणे, णउ जरामरण भाअ ॥१९॥
—काण्हपा का दोहाकोष।

४. सिद्धंत पुराणहि वेय बढ़ बुज्झंतह णउ भंति।
आणंदेण व जाम गउ, ता बढ़ सिद्ध कहंति ॥१२६॥
—पाहुड़दोहा।

पुरुषों के लिए कदाचित् एक दूसरे जैन मुनि जोइंदु भी कहते हैं "वे अपनी उस परम समाधि की महाग्नि में अपने सारे कर्मों का हवन कर देते हैं और इस प्रकार वंदनीय भी हो जाते हैं।[1] किन्तु बौद्ध सिद्धों और जैन मुनियों के आदर्शों में फिर भी बहुत कुछ अंतर पाया जाता है। मुनिराम सिंह और जोइंदु का आविर्भाव संभवतः बौद्ध सिद्धों के ही युग में हुआ था और वे इनके वातावरण से प्रभावित भी थे। उस काल के नाथ-पंथियों ने भी 'सिद्ध' शब्द का व्यवहार करते समय उक्त सिद्धों की विशेषताओं की ओर ही ध्यान दिया है। बहुत से प्रसिद्ध नाथों की गणना चौरासी सिद्धों में भी की जाती है और गुरु गोरखनाथ की एक 'बानी' में भी उनका 'सिध गोरष भाछै' कहना दीख पड़ता है।[2] सिद्धों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने बतलाया है कि सिद्धों ने गगन मण्डल तक पहुँचकर अनुभूति प्राप्त की थी जिसे ग्रन्थों में निहित किया गया और उसके केवल वाह्य रूप से ही पंडित लोग परिचित हो पाये, उसके सारतत्व को केवल सिद्धों ने ही ग्रहण किया और वे उससे लाभान्वित हो गये।[3] इसी कारण उन्होंने सिद्धों की विशेषता के रूप में उस निर्मल एवं शुद्ध बुद्धि युक्त वाणी का वर्णन किया है जिसके द्वारा वास्तविक रहस्य का भेद मिलता है।[4]

---

१. ते हउं बंदउ सिद्धगण अच्छहिं जेवि हवंत।
परमसमाहिमहग्गियए, कम्मिधणइँ हुणंत ॥३॥—परमात्मप्रकाश

२. गोरख बानी, पद ५४. पृ० १५१।

३. गिगनि मंडल मैं गाय बियाई, कागद दही जमाया।
छाछि छांणि पिंडता पीवीं, सिधां माषण षाया ॥१६६॥
—वही, पृ० ६६।

४. राजा सोभंत दल प्रवांणी, यूँ सिधा सोभंत सुधि बुधि की वांणी॥६५॥
—वही पृ० २४

बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय में नागार्जुन के शून्यवाद का जो प्रचार हुआ वह तर्क-पद्धित के अत्यंत शुष्क परिणाम का द्योतक था और इस कारण निर्वाण-सम्बंधी धार्मिक मान्यताओं की ओर से सर्वसाधारण बहुत कुछ उदासीन से होने लगे। मैत्रेय नाथ एवं बसुबंधु के योगाचार का भी उन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ सका क्योंकि कोरे तार्किक से मनोवैज्ञानिक बन जाने मात्र से ही वह हार्दिक संतोष और समाधान संभव नहीं जो एक धार्मिक वर्ग के लिए अभिप्रेत है। तदनुसार उक्त दार्शनिक विचार-धाराओं की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में इंद्रभूति के महासुखवाद का आरंभ हुआ। इंद्रभूति ने नागार्जुन द्वारा दिये गए निर्वाण के 'शून्य' स्वरूप तथा बसुबंधु द्वारा निर्दिष्ट 'विज्ञप्ति मात्रता' के स्थान पर 'महासुख' के परमानंद की स्थिति की कल्पना की और उसके लिए कतिपय साधनाएँ भी बतलायी।[1] इंद्रभूति उड़ीसा के एक राजा समझे जाते हैं जिनका आविर्भाव ईसा की ८वीं शताब्दी में हुआ था। कहते हैं कि उन्हीं की बहन लक्ष्मीकरा थी जिन्होंने सहजयान का प्रवर्तन कर अपने भाई के उपर्युक्त मत में पूरा सहयोग प्रदान किया। इंद्रभूति और लक्ष्मीकरा दोनों की गणना ८४ सिद्धों में की जाती है।[2] इंद्रभूति के समय तक वज्रयान का प्रचार हो चुका था और उस काल के लोग मंत्रयान से भी प्रभावित थे। वज्रयान के कारण विभिन्न तान्त्रिक देवताओं की पूजन-पद्धित एवं मण्डल-चक्रों के अनुष्ठान चल रहे थे और मंत्रयान भी कोरे मंत्रों की शक्ति में अंधविश्वास को प्रश्रय देता हुआ जान पड़ रहा था। लक्ष्मीकरा ने अपने सहजयान द्वारा इस बात का प्रचार किया कि दोनों का पूजन, तीर्थ, व्रत अथवा मंडलादि का वाह्य विधान निरर्थक हैं और इनके द्वारा मोक्ष कदापि

1. Proceedings and Transactions of the 3rd Oriental Conferance, Madras, 1924, pp 129-41
2. The Cultural Heritage of India, Vol. II, p 219

संभव नहीं। उसकी प्राप्ति के लिए सामाजिक नियमों तक का पालन आवश्यक नहीं। मानव शरीर सभी देवों का वास्तविक अधिष्ठान है और सत्य की अनुभूति के लिए अपने चित्त को पूर्णतः निर्मल और विशुद्ध कर लेना ही पर्याप्त है। उसी के द्वारा सहज दशा की उपलब्धि होती है जिसके आगे किसी भी नियम का पालन व्यर्थ है। चौरासी सिद्धों में से बहुत से उड़ीसा प्रांत के निवासी कहे जाते हैं और शेष में से भी कई का कुछ न कुछ सम्बंध उससे बतलाया जाता है। उनकी भाषा का भी उड़िया भाषा के साथ बहुत कुछ साम्य दिखलाया जाता है।[1] परंतु इस मत के लिए अभी तक पूरा प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

चौरासी सिद्धों में से कई एक का सम्बंध आगे चलकर काल-चक्रयान से भी हो गया था जो महायान के अंतर्गत प्रचलित होने वाले उप-संप्रदायों में अन्यतम था। कालचक्रयान को कुछ लोगों ने काल को भयंकर राक्षस के रूप में अधिष्ठित मानने वालों का वर्ग माना है, परंतु बात ऐसी नहीं है। सिद्ध नारोपा ने अपनी रचना 'सेकोद्देश टीका' में कालचक्रयान का मत बतलाते समय कहा है कि हम लोग सभी कोई सदा से बुद्ध-स्वरूप हैं, किन्तु अज्ञान के कारण हमें इसका पूरा बोध नहीं हो पाता। कालचक्रयान के 'काल' शब्द का 'का' अक्षर उस कारण का प्रतीक है जो सर्वकारण रहित तत्व में अंतर्निहित रहता है, अतएव हमें कारण की भावना तक कोवज्रयोग द्वारा दबा देना चाहिए और 'ल' अक्षर का अभिप्राय उस लय से है जो नित्य संसृति में सदा के लिए सबके अंतर्भुक्त होने की ओर संकेत करता है।[2] इसी प्रकार 'चक्र' शब्द का 'च' भी चलचित्त का बोधक

1. The Journal of the Kalinga Historical Research Society, vol. I, No. 4, p 297

२. काकारात्कारणे शान्ते, लकाराल्लयोत्रवै।
चकाराच्चल चित्तस्य, क्रकारात्क्रमबन्धनैः॥ —सेकोद्देशटीका, पृ०८।

है और 'क' उसके क्रम वा विकास का पूर्ण निरोध करने की ओर हमें प्रवृत्त करता है। सिद्ध नारोपा ने, इसी प्रकार 'आदिबुद्ध' की भी व्याख्या अनादि, अमृत एवं सर्वज्ञ के रूप में की है और सबके लिए उस अंतिम दशा तक पहुँचने का मार्ग निर्दिष्ट किया है।[1]

इस प्रकार चौरासी सिद्धों में गिने जाने वाले लोग न तो किसी जाति विशेष के व्यक्ति थे, न केवल रसायनादि का प्रयोग करने वाले अथवा तांत्रिक विधियों में सदा निरत रहने वाले साधक ही थे। ये भिन्न-भिन्न साधनाओं द्वारा पूर्णता की एक स्थिति विशेष तक पहुँचे हुए महापुरुष समझे जाते थे। इसी कारण, इनकी युक्तियों को बहुत बड़ा महत्व दिया जाता था तथा समय पाकर इनके एक पृथक् वर्ग की भी कल्पना कर ली गई थी। इनमें ब्राह्मण से लेकर क्षत्रिय, शूद्र, कायस्थ, कहार, तंतुवाय, दर्जी, मछुए, धोबी, चमार और चिड़ीमार तक संमिलित थे और इनमें शास्त्रज्ञ पंडित एवं कलाकार से लेकर निरक्षर व्यक्तियों तक का समावेश था। इनके आविर्भाव का क्षेत्र भी बहुत विस्तीर्ण था। परंतु प्रसिद्ध-प्रसिद्ध बौद्ध विहारों और विश्वविद्यालयों में बहुधा एकत्र होते रहने तथा एक संस्कृति विशेष के अनुयायी होने के कारण उनकी ग्रन्थरचना-पद्धति और विचार-धारा में कोई महत्व पूर्ण अंतर नहीं आया था। ये कामरूप, चंपा, उड़ीसा से लेकर मालवा, मारवाड़ और सिंध तक के निवासी थे और कांची एवं कर्णाटक से लेकर कश्मीर तक में उत्पन्न हुए थे। किन्तु इनकी भाषा में उतना अंतर नहीं लक्षित होता जितना इस प्रादेशिक विभिन्नता के कारण संभव था। जानकार विद्वानों के अनुसार इनकी ८४वीं संख्या ईसा की ८वीं शताब्दी से लेकर १२वीं तक अर्थात् लगभग ५०० वर्षों में पूरी हुई थी। किन्तु इनकी प्रमुख सांप्रदायिक विशेषताओं के प्रायः सदा अक्षुण्ण बने

1. Stepping Stones (Kalimpong) Vol 2, No. 2, pp 54-55

रहने के कारण इनके वर्ग को बराबर एक विशिष्ट स्थान मिलता आया। इन चौरासी सिद्धों में कतिपय स्त्रियाँ भी संमिलित थी जिन्हें सिद्ध के स्थान पर 'योगिनी' कहा जाता था। इन्हीं सिद्धों के आदर्श को महत्व देते हुए नाथ-पंथियों ने कदाचित् 'सिद्ध योगी' की एक रूपरेखा भी कल्पित की थी जिसका परिचय 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' के अंतिम श्लोकों में है।[1]

चौरासी सिद्धों की उपलब्ध सूचियों को देखने से पता चलता है कि उनमें कई प्रसिद्ध नाथों के भी नाम आ गए हैं। प्रायः सभी सूचियों के अंतर्गत हमें न केवल गोरखनाथ का ही नाम आता दीखता है, अपितु उनमें मीन वा मत्स्येंद्रनाथ, जलंधर या जलंधरी नाथ कण्हपा वा कणेरीनाथ, नागार्जुन, आदि कई ऐसे नाम भी आते हैं जो प्रसिद्ध नाथ योगियों की भी सूचियों में मिला करते है। इसके सिवाय उनकी उपलब्ध रचनाओं में भी हमें बहुत सी ऐसी ही बातें दीख पड़ती हैं जो सिद्ध साहित्य के अंतर्गत भी आ सकती हैं। अतएव, ऐसे सिद्धों को बहुधा 'नाथ सिद्ध' कह देने की भी परंपरा देखी जाती है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल वे ही लोग नाथ सिद्ध कहे जाते हैं जिनकी गणना प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में भी की जाती है। नाथ सिद्धों में हमें चरपटी नाथ, चुणकर नाथ, भर्तृहरी, गोपीचंद तथा घोड़ाचोली जैसे योगियों के भी नाम दीख पड़ते हैं जो चौरासी सिद्धों में नहीं पाये जाते। इसी प्रकार नाथ-पंथियों के ही अंतर्गत समझे जाने वाले राजस्थान के जसनाथी संप्रदाय में भी हम उसके प्रमुख योगियों को सदा सिद्ध कहलाते हुए ही पाते हैं और वहाँ पर इस उपाधि के पहले 'नाथ' शब्द भी जुड़ा हुआ नहीं पाया जाता। 'सिद्ध' शब्द यहाँ पर केवल इस लिए व्यवहृत होता जान पड़ता है कि उसके द्वारा अभिहित लोग किसी परंपरा विशेष के अनुयायी हैं।

---

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति : श्लोक ६५-७ (षष्ठोपदेश)।

फिर भी 'सिद्ध' शब्द, अपने मूल अर्थ में, वस्तुतः इस बात को ही सूचित कर सकता है कि जिस व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया जा रहा है वह अपनी साधना विशेष में पूर्णतः कृतकार्य हो चुका है। चौरासी सिद्धों के लिए भी पहले-पहल, यह संभवतः इसी आधार पर प्रयुक्त हुआ था और उनसे अतिरिक्त नाथ-सिद्धों को भी ऐसा केवल, इसी कारण, कहा गया होगा। अभी कुछ ही दिन पहले प्रकाशित 'नाथ सिद्धों की बानियाँ'[१] के देखने से पता चलता है कि जो रचनाएँ उसमें संगृहीत हैं वे लगभग एक ही प्रकार की शैली द्वारा निर्मित को गई हैं तथा उनका विषय भी लगभग एक ही प्रकार का है। किन्तु उनके रचयिताओं में हमें महादेवजी, पारवती जी रामचंद्र जी, लक्ष्मण जी, दत्त जी और हणवंत जी जैसे पौराणिक नाम भी मिलते हैं जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि ये किन विशिष्ट व्यक्तियों को सूचित करते होंगे। इनमें से यदि अंतिम दो अर्थात् दत्त जी को प्रसिद्ध दत्तात्रेय मानकर, उनकी उपलब्ध संस्कृत रचनाओं के आधार पर, कोई ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार कर लें तथा हणवंत जी को भी नाथ-पंथी 'धज संप्रदाय' के प्रमुख प्रवर्तक के रूप में देखने की चेष्टा करें, फिर भी शेष चार के विषय में हम ऐसा नहीं कर पाते और इन्हें केवल काल्पनिक मान लेने की ही प्रवृत्ति होती है।[२] सुयोग्य संपादक का अनुमान है कि लषमण जी भी प्रसिद्ध लक्ष्मण नाथ वा बालापीर अथवा बालनाथ को सूचित करता है जो कदाचित् परंपरा द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है। परंतु यदि ऐसा है तो फिर 'रामचंद्र जी' शब्द भी किसी उक्त व्यक्ति विशेष का ही बोध करा सकता है जिसके लिए "रामैं आगै

---

१. संपादक हजारी प्रसाद द्विवेदी : नाथ सिद्धों की बानियाँ, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४।

२. नाथ सिद्धों की बानियाँ, बालनाथजी की सबदी, पृ० ६१।

लषमण कहै" में 'राम' का प्रयोग किया गया है। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों का कुछ भी पता न रहने के कारण हम उनके सिद्धत्व के विषय में भी कुछ नहीं कह सकते।

चौरासी सिद्धों में से किन-किन को हम बौद्ध-सिद्ध कह सकते हैं, किनको नाथ-सिद्धों की श्रेणी में रख सकते हैं अथवा उनमें से किन को जैन-सिद्ध वा अन्य प्रकार के सिद्ध ठहरा सकते हैं, इसके लिए भी अभी तक प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं, न अभी तक यही कहा जा सकाता है कि उनकी संख्या चौरासी तक ही क्यों सीमित की गई है।

(२)

सिद्धों की संख्या चौरासी ही क्यों मानी गई है ? उनमें वह कौन सी विशेषता है जिस कारण वे एक पृथक् वर्ग के समझे जाते हैं ? तथा उक्त संख्या की पूर्ति के लिए प्रायः पाँच सौ वर्षों के एक लंबे समय के लोगों में ही क्यों छानबीन की जाती है आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विचार करने वालों में अभी तक मतभेद पाया जाता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि सिद्धों की चौरासी संख्या उनके भिन्न-भिन्न आसनों के आधार पर सिद्धि पाने के कारण है[1], किन्तु इस कथन के लिए वे कोई प्रमाण नहीं देते, न यह बात किसी उपलब्ध सामग्री के सहारे अभी तक सिद्ध ही की जा सकी है। इसी प्रकार कतिपय दूसरे लोगों का यह अनुमान भी कि यह संख्या प्रसिद्ध चौरासी लक्ष योनियों के कारण निश्चित की गई है, निराधार जान पड़ता, है क्योंकि ये सिद्ध इन भिन्न-भिन्न योनियों की विशेष चर्चा करने में लगे हुए भी नहीं पाये जाते। अतएव, इनके चौरासी होने की परंपरा वस्तुतः किसी सांप्रदायिक आग्रह के कारण चल पड़ी हुई ही प्रतीत होती है। परंतु इसे कब और किस प्रकार निश्चित किया गया तथा

---

१. डॉ० मोहन सिंह : गोरखनाथ एण्ड मेडीवल हिन्दू मिस्टिसिज़्म, लाहौर, १९३७, पृ० २-३।

ऐसा करने वालों ने अपने सामने कौन सा मानदंड रखा, जैसे प्रश्न फिर भी उठने लगते हैं जिन पर विचार करने की चेष्टा करना कुछ कम महत्व पूर्ण नहीं है।

अनुमान किया गया है कि इन सिद्धों की चौरासी संख्या मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी के आक्रमण-काल (सन् ११९९ ई०) के पहले ही पूरी हो चुकी होगी। श्री राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत में उपलब्ध सिद्धों की सूची में आने वाले कालपा को अंतिम वा चौरासिवाँ सिद्ध मान कर उनका समय ११ वीं शताब्दी के अंत से कुछ पूर्व का बतलाया है।[1] उनका कहना है कि ये सिद्ध कालपा भेलुकपा के शिष्य थे जिन्होंने स्वयं मैत्रीपा वा अवधूतीपा से दीक्षा ग्रहण की थी। इन मैत्रीपा को वे उस प्रसिद्ध दीपंकर श्री ज्ञान (सन् ९८२-१०५४ ई०) का भी विद्यागुरु होना मानते हैं जो ईसा की ११ वीं शताब्दी के आरंभ में वर्तमान थे। अतएव, चौरासी सिद्धों का युग उन्होंने आदि सिद्ध सरहपा के समय (लगभग सन् ७६९-८०९ ई०) से लेकर अधिक से अधिक सन् ११७५ ई० तक माना है। इसमें संदेह नहीं कि अनेक सिद्धों का आविर्भाव सिद्ध कालपा के अनंतर भी हुआ था, किन्तु प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की संख्या उन्हीं के समय तक पूरी हो जाती जान पड़ती है। तिब्बत की उक्त तेंजूर वाली सूची में चौरासी सिद्धों के नाम कालक्रम के अनुसार नहीं दिये गए हैं, न उसमें किसी गुरु-परंपरा विशेष का अनुसरण किया जाना ही सूचित होता है।

तिब्बत की उपर्युक्त सूची में आये हुए नामों का क्रम इस प्रकार है—

१. लूहिपा २. लीलापा ३. विरूपा ४. डोम्भिपा ५. शबरीपा ६. सरहपा ७. कंकालीपा ८. मीनपा ९. गोरक्षपा १०. चोरंगिपा ११. वीणापा १२. शांतिपा १३. तंतिपा १४. चमरिपा १५. खंगपा १६. नागार्जुन १७. कराहपा १८. कर्णरिपा १९. थगनपा २०. नारोपा २१.

---

[1] 'गंगा', पुरातत्त्वाङ्क, पृ० २२५।

शलिपा २२. तिलोपा २३. छत्रपा २४. भद्रपा २५. दोखंधिपा २६. अजोगिपा २७. कालपा २८. धोम्भिपा २९. कंकणपा ३०. कमरिपा ३१. डेंगिपा ३२. भदेपा ३३. तंधेपा ३४. कुकुरिपा ३५. कुसूलिपा ३६. धर्मपा ३७. महीपा ३८. अचितिपा ३९. भलहपा ४०. नलिनपा ४१. भुसुकपा ४२. इंद्रभूति ४३. मेकोपा ४४. कुठालिपा ४५. कमरिपा ४६. जालंधरपा ४७. राहुलपा ४८. धर्मरिपा ४९. धोकरिपा ५०. मेदिनीपा ५१. पंकजपा ५२. घंटापा ५३. जोगीपा ५४. मेलुकपा ५५. गुंडरिपा ५६. लुचिकपा ५७. निर्गुणपा ५८. जयानंत ५९. चर्पटीपा ६०. चंपकपा ६१. भिखनपा ६२. भलिपा ६३. कुमरिपा ६४. जवरिपा ६५. मणिभद्रा ६६. मेखला ६७. कनखला ६८. कलकलपा ६९. कंतलिपा ७०. धहुलिपा ७१. उधलिपा ७२. कमालिपा ७३. किलपा ७४. सागरपा ७५. सर्वभक्षपा ७६. नागबोधिपा ७७. दारिकपा ७८. पुतुलिपा ७९. पनहपा ८०. कोकालिपा ८१. अनंगपा ८२. लक्ष्मीकरा ८३. समुदपा और ८४. भलिपा ।

इनमें से ६५ मणिभद्रा, ६६ मेखला, ६७ कनखला एवं ८२ लक्ष्मीकरा स्त्रियों के नाम हैं और इन्हें सिद्ध न कहकर 'योगिनी' की संज्ञा दी जाती है ।

इसी प्रकार चौरासी सिद्धों की एक अन्य तालिका ईसा की १४ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर की रचना 'वर्ण रत्नाकर' में भी पायी जाती है जिसके अंत में 'चउरासी सिद्धा' लिखते हुए भी उसके लेखक ने केवल ७६ ही नाम दिये हैं और शेष को किसी कारणवश छोड़ दिया है। 'वर्ण रत्नाकर' की सूची के नाम इस प्रकार आते हैं[1] —

१. मीननाथ २. गोरक्षनाथ ३. चौरंगीनाथ ४. चामरीनाथ ५.

---

१ संपादक सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या एवं बबुआ मिश्र : वर्ण रत्नाकर, कलकत्ता, सन् १९४० ई०, पृ० ५७-८ ।

तंतिपा ६. हलिपा ७. केदारिपा ८. ढोंगपा ६. दरिपा १०. विरूपा ११. कपाली १२. कमारी १३. कान्ह १४. कनखल १५. मेखल १६. उन्मन १७. कान्तलि १८. धोबी १६. जालंधर २०. डोंगी २१. मवह २२. नागार्जुन २३. दौली २४. भिषाल २५. अचिंति २६. चंपक २७. ढेण्ढसर २८. भुसुरी २६. वाकलि ३०. तुजी ३१. चर्पटी ३२. भादे ३३. चांदन ३४. कामरि ३५. करवत ३६. धर्मपा पतंग ३७. भद्र ३८. पातलिभद्र ३६. पलिहिह ४०. भाणु ४१. मीनो ४२. निर्द्दंम ४३. सबर ४४. सांति ४५. भर्तृहरि ४६. भीसन ४७. भरी ४८. गगणपा ४६. गमार ५०. मेणुरा ५१. कुमारी ५२. जीवन ५३. अघोसाधर ५४. गिरिवर ५५. सीयरी ५६. नागवलि ५७. × धिभरह ५८. सारंग ५६. विविकिधज ६०. मगरधज ६१. अचित ६२. विचित ६३. नेवक ६४. चाटल ६५. नाचन ६६. भीलो ६७. पाहिल ६८. पासल ६६. कमल कंगारि ७०. चिपिल ७१. गोविंद ७२. भीम ७३. भैरव ७४ भद्र ७५. भामरी और ७६. भूरुकुटी।

इसमें ५० नाम ऐसे हैं जो उक्त प्रथम सूची में नहीं दीख पड़ते और शेष में से कई ऐसे हैं जो केवल थोड़े ही परिवर्तन के साथ उसमें आ चुके हैं। नामों का क्रम इस तालिका में भी किसी नियम के अनुसार दिया गया नहीं जान पड़ता। इसके २१ वें नाम 'मवह' को अनुमानतः सरह पढ़ा जाता है, किन्तु इसके ५८ वें नाम × धिभरह से कुछ भी पता नहीं चलता। स्व० हरप्रसाद शास्त्री ने इस दूसरे नाम को हस्तलिखित प्रति में 'विभवत्' पढ़ा था और डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी यही माना है।[1] किन्तु इस नाम के भी किसी सिद्ध का पता लगाना कठिन है। इसका मेणुरा नाम मयनावती का भी हो सकता है।

1. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, प्रयाग, १६५० पृ० ३०।

स्वात्माराम की 'हठयोग प्रदीपिका' में भी सिद्धों की एक सूची दी गई है और उन्हें 'मृत्यु को जीतकर ब्रह्मांड में विचरने वाला' कहा गया है। उस तालिका में जो नाम गिनाये गए हैं वे इस प्रकार हैं।

१ आदिनाथ २ मत्स्येंद्र ३ शाबर ४ आनंद भैरव ५ चौरंगी ६ मीन ७ गोरक्ष ८ विरूपाक्ष ९ बिलेशय १० मंथान ११ भैरव १२ सिद्धि १३ बुद्ध १४ कंथड़ि १५ कोरंटक १६ सुरानंद १७ सिद्धपाद १८ चर्पटि १९ कानेरी २० पूज्यपाद २१ नित्यनाथ २२ निरंजन २३ कपाली २४ विंदुनाथ २५ काकचंडी २६ अल्लाम २७ प्रभु-देव २८ घोड़ाचोली २९ टिंटिणि ३० भानुकी ३१ नारदेव ३२ खंड और ३३ कापालिक।

इसके अंत में 'इत्यादयो महासिद्धाः' कहकर छोड़ दिया गया है[1] जिससे पता चलता है कि अन्य सिद्धों के नाम अभी देने को रह जाते हैं। फिर भी यहाँ पर 'चौरासी' जैसी संख्या दी गई नहीं दीख पड़ती, यद्यपि नाथ-पंथ के ही एक अन्य ग्रन्थ 'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' में 'चतुरशीति सिद्ध-गणना' का प्रसंग पाया जाता है[2]। इस प्रकार जान पड़ता है कि यह संख्या कदाचित् नाथ-पंथियों को भी स्वीकृत रही होगी। इन ३३ नामों में से केवल १० ही ऐसे हैं जो प्रथम सूची में भी आये हैं और शेष २३ इस दृष्टि से नवीन प्रतीत होते हैं। इसके सिवाय उक्त दूसरी सूची के नामों के साथ तुलना करने पर भी पता चलता है कि दोनों में केवल थोड़े से ही नाम एक समान हैं और शेष एक दूसरे के साथ मेल नहीं खाते।

सिद्धों के ऐसे नामों की एक तालिका प्रकाशित चर्यापदों के रचयिताओं के आधार पर भी बनायी जा सकती है। ऐसा करने पर पता चलता है कि ये नाम केवल २२ ही हैं और वे भी उन रचनाओं

---

१. हठ योग प्रदीपिका, बंबई, पृ० ६।

२. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, बनारस, १९२५, पृ० २१।

के क्रमानुसार पाये जाते हैं। चर्यापदों की संख्या ५० दी जाती है और इसी कारण वे नाम अधिकतर एक से अधिक बार भी आ गए हैं। इस सूची के नामों का क्रम इस प्रकार है—

१ लुईपाद २ कुक्कुरीपाद ३ विरुवपाद ४ गुंडरीपाद ५ चाटिल्लपाद ६ भुसुकपाद ७ कान्हपाद ८ कम्बलाम्बरपाद ९ डोम्बीपाद १० शांतिपाद ११ महीधरपाद १२ वीणापाद १३ सरहपाद १४ शबरपाद १५ आर्यदेवपाद १६ ढेण्ढणपाद १७ दारिकापाद १८ भादेपाद १९ ताड़कपाद २० कौंकणपाद २१ जयनंदी और २२ धामपाद।

इन नामों में १३ ऐसे हैं जो उपर्युक्त प्रथम सूची में भी आते हैं और यदि आर्यदेव एवं कर्णरी, (सं० १८) धामपाद एवं धर्मपा (सं० ३६), महीधरपाद एवं महीपा (सं० ३७), जयनंदी एवं जयानंत (सं० ५९) तथा कम्बलाम्बरपाद एवं कमरिपा (सं० ३०) एक ही हों और नाड़कपाद भी कहीं नाड़पा वा नारोपा समझ लिये जा सकें, जैसा कि श्री राहुल जी ने अनुमान किया है[२] तो दोनों सूचियों के १९ सिद्धों की एकता में कोई संदेह नहीं रह जाता और इस चौथी सूची के केवल तीन ही सिद्ध नवीन ठहरते हैं। गुएन वाल्ड की सूची में भी केवल ३८ सिद्धों के ही नाम आते हैं जिस कारण वह भी अधूरी ही है फिर भी आज तक उपलब्ध प्रायः सारी सूचियों की तुलना कर लगभग १५० नामों का होना अनुमान किया जाता है जिनमें से कई एक वस्तुतः एक ही सिद्ध के जान पड़ते हैं, नामांतर बन गये हैं। इन्हें समुचित खोज के आधार पर निश्चित करके ही कोई प्रमाणिक सूची तैयार की जा सकती है।

इन उपर्युक्त चार सूचियों के अतिरिक्त अन्य कोई विस्तृत सूची

---

१. डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची : चर्यापद, कलकत्ता १९३८ ई०, पृ० १०७-५५।

२. 'गङ्गा' (पुरातत्त्वाङ्क), पृ० २५८।

इस समय उपलब्ध नहीं जान पड़ती। नव नाथों की भी कई भिन्न-भिन्न सूचियाँ बतलायी जाती हैं जिनमें सर्वसाधारण नाम केवल आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, जालंधर नाथ और गोरक्षनाथ के ही आते हैं[1] और ये चारों नाम 'हठयोग प्रदीपिका' की सूची में दीख पड़ते हैं। इन सभी सूचियों की पारस्परिक तुलना करने पर पता चलता है कि इनमें केवल थोड़े से ही नाम एक समान है। शेष में से कुछ में न्यूनाधिक समानता है और कुछ नितांत भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। संभव है इन असमान नामों में से कुछ ऐसे भी निकल आवें जो एक ही सिद्ध के लिए दो वा अधिक रूपों में प्रयुक्त होते आए हैं। इन सूचियों में से किसी में भी नामों का, काल-क्रमानुसार वा गुरुपरंपरा-नुसार संमिलित किया जाना विदित नहीं होता। तीसरी सूची में सर्व-प्रथम आये हुए 'आदिनाथ' शब्द से 'आदि सिद्ध' का भी बोध कराया जा सकता है। किन्तु इसे मान लेने के लिए कोई प्रामाणिक आधार नहीं है, न इससे यही सिद्ध किया जा सकता है कि आगे आने वाले सभी नाम भी उसी सिद्ध की परंपरा के हैं तथा क्रमानुसार भी हैं। इसके सिवाय स्वयं आदिनाथ के व्यक्तित्व के विषय में भी अनेक प्रकार के अनुमान किये जाते हैं। नाथ-पंथ वाले इसे शिव के लिए प्रयुक्त समझते जान पड़ते हैं।[2] यद्यपि उड़ीसा के कई ग्रन्थों में इसे मत्स्येंद्र का नाम स्वीकार किया गया है[3] और डॉ० बड़थ्वाल तथा श्री राहुल जी ने इसे जालंधरनाथ का एक दूसरा नाम समझा है।[4]

इसी प्रकार प्रथम सूची के अंतर्गत आये हुए प्रायः प्रत्येक नाम

---

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, प्रयाग, १९५०, पृ० २६।

२. हठयोग प्रदीपिका, बंबई, पृ० ८।

३. डॉ० पी० मुकर्जी : वैष्णविज़्म इन उड़ीसा, कलकत्ता, १९४०, पृ० ९५।

४. 'गङ्गा' (पुरातत्त्वाङ्क), पृ० २२० (पादटिप्पणी)।

के पीछे 'पा' शब्द जुड़ा हुआ दीख पड़ता है, जहाँ दूसरी में इसके प्रयोग बहुत ही कम हैं और तीसरी में इसका कहीं पता नहीं चलता। दूसरी और तीसरी सूचियों में 'नाथ' शब्द कई उन्हीं नामों के आगे लगा हुआ पाया जाता है जिनमें प्रथम सूची के अनुसार 'पा' शब्द को कुछ लोग तिब्बती भाषा का मान कर उसका अर्थ 'वाला' किया करते हैं और कहते हैं कि यह विशेषकर उन सिद्धों के ही नामों के आगे लगता है जो संयुक्तप्रांत (उत्तर प्रदेश), बिहार, बंगाल, नेपाल, अथवा तिब्बत के निवासी थे और पंजाब, राजस्थान, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र तथा दक्षिणापथ के सिद्धों के नामों में अधिकतर 'नाथ' पाया जाता है।[1] परंतु इस प्रकार का अनुमान उपर्युक्त सूचियों के अनुसार भी निराधार जान पड़ता है। 'पा' शब्द संभवतः संस्कृत भाषा के 'पाद' शब्द का एक संक्षिप्त रूप है और अपने मूल शब्द की ही भाँति किसी नाम वाले को गौरव प्रदान करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'नाथ' शब्द का साधारण अर्थ स्वामी होता है और उसका भी प्रयोग अधिकतर आदरार्थ हुआ करता है। परंतु नाथ-सिद्धों की भाँति वायुवादी एवं मुद्रावादी हठयोगी, वज्रयानी तथा सहजयानी सिद्ध, रसेश्वर सिद्ध, दत्तात्रेय संप्रदाय के आचार्य महेश्वर और शैव तांत्रिक सिद्ध भी पूर्णत्व को ही अपना अभीष्ट मानते हैं। इन संप्रदायों के कई सिद्धों के नाम नाथांत पाये जाते हैं।[2] नाथ शब्द पूर्णत्व का परिचायक है। इस शब्द की व्याख्या

---

१. डॉ० मोहनसिंह : गोरखनाथ एण्ड मेडीवल हिन्दू मिस्टिसिज़्म, लाहौर, सन् १९३७, पृ० ४०-१।

२. त्रिपुरा तत्व 'नित्योत्सव टीका'—गायकवाड़ सीरीज २२ तथा वाग्भट्ट कृत रसरत्न समुच्चय और कपिल गीता, पद्मपुराण, गोरक्ष सिद्धांत संग्रह, पृ० १०७

षटशांभव रहस्य' में ईश पदवाच्य है ।[1] राज गुह्य ग्रन्थ में 'नाथ' शब्द में का 'ना' का अर्थ अनादि रूप और 'थ' का अर्थ स्थापित करना दिया गया मिलता है ।[2] फिर भी आगे चल कर 'नाथ' शब्द का प्रयोग इतर संप्रदायों में भी होने लगा। अतएव उक्त प्रकार के अनुमान की अपेक्षा इस प्रकार का परिणाम निकालना कहीं अधिक युक्तिसंगत हो सकता है कि 'पा' एवं 'नाथ'—दोनों ही—आदरसूचक शब्द हैं और इनमें से प्रथम का प्रयोग जहाँ तिब्बत वा उससे प्रभावित प्रदेशों में बनी सूचियों के निर्माताओं ने किया है, वहाँ दूसरे का व्यवहार विशेषतः वहाँ पर हुआ है, जहाँ की परंपरा तिब्बत से कई बातों में भिन्न थी। इसके सिवाय प्राचीन सिद्ध अधिकतर तांत्रिक बौद्धों की श्रेणी में गिने जाते थे और उनके नामों के अंत में तिब्बती परंपरा के प्रभावानुसार 'पा' शब्द लगा करता था। किन्तु नाथ-पंथ का प्रचार हो जाने पर पीछे 'नाथ' शब्द को विशेष महत्व मिल गया जो इन सूचियों के प्राप्ति-स्थानों से भी प्रमाणित होता है। चौथी सूची में तो सभी चर्या-कवियों के अंत में 'पाद' शब्द ही लगा पाया जाता है।

उपर्युक्त सूचियों की पारस्परिक तुलना करने पर एक यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि चौरासी सिद्धों की संख्या किसी सर्वमान्य आधार पर नहीं प्रस्तुत की गई होगी, न उनमें आने वाले सभी नाम कभी सर्व-स्वीकृत समझे जाते रहे होंगे। उड़ीसा की परंपरा सिद्धों की संख्या केवल ६४ ही स्वीकार करती है और उनमें प्रमुख सिद्ध गोरखनाथ माने जाते है।[3] डॉ॰ बागची का कहना है

---

१. गोरक्ष सिद्धांत संग्रह में शक्ति संगम तंत्र, पृ० १५७।

२. नाथान्तो वाम देशानि···आदि ।—गोरक्ष सिद्धांत संग्रह, पृ० १५७ पर उद्धृत।

३. डॉ० पी० मुकर्जी : मेडीवल वैष्णविज़्म इन् उड़ीसा कलकत्ता, १९४०, पृ० ५८-५९।

कि सिद्धों की संख्या पहले चौरासी नहीं रही होगी। यह पीछे, किसी सांप्रदायिक रहस्य के कारण किसी अन्य संख्या को बढ़ाकर निश्चित कर दी गई है।[1] जान पड़ता है कि ८४ की संख्या, सर्वप्रथम, तिब्बत में स्वीकृत की गई थी, जहाँ पर इन सिद्धों की एक चित्रावली भी मिलती है और उसके अंतर्गत केवल उन्हीं के नाम संमिलित किये गए थे जिन्हें वहाँ के लोगों ने उस कोटि में आने योग्य माना था। हो सकता है कि इस ८४ की संख्या का भी कोई सांप्रदायिक रहस्य रहा हो और वह उसी प्रकार प्रसिद्ध हो चली हो जैसे २४ तीर्थंकर, नवनाथ, बावन वीर, चौसठ योगिनी आदि में लगकर भिन्न-भिन्न संख्याएँ चल पड़ी हैं। तिब्बत से आरंभ होकर चौरासी सिद्धों की परंपरा फिर क्रमशः अन्य स्थानों तक भी पहुँच गई, किन्तु उनके विषय में कोई निश्चित परिचय न पा सकने के कारण, पीछे दूर-दूर के लोगों ने इस बड़ी संख्या के नामों में मनमाने फेरफार भी करना आरंभ कर दिया। कहते हैं कि इन सिद्धों की एक सूची जावा द्वीप में भी मिलती है, किन्तु उनके नाम, संख्या वा क्रम का हमें कुछ पता नहीं है। सिद्धों की उपलब्ध चित्रावली में जो उसका क्रम दिया हुआ है वही क्रम उनकी उक्त प्रथम सूची में भी पाया जाता है और उसी को प्रामाणिक मानकर लोगों ने लूईपा को आदि सिद्ध भी समझ लिया है। परंतु इस बात का समर्थन किसी अन्य प्रकार से नहीं होता, यद्यपि इसका उल्लेख तिब्बत में प्राप्त कुछ ग्रन्थों में भी दीख पड़ता है और इसकी पुष्टि जावा की सूची से भी हो जाती है।

चौरासी सिद्धों का कोई एक वंश-वृक्ष भी पृथक् उपलब्ध नहीं है। तिब्बत के 'तेरग्यॉ' नामक मठ से कोई ग्रन्थावली छपी है जिसका नाम 'सस्क्य क्कं बुम' है और जिसमें सस्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं (सन् १००६-११७६ ई०) की रचनाएँ संग्रहीत हैं। श्री राहुल

---

१. वही, पृ० ५५-६०।

जी ने अधिकतर उसी के सहारे सिद्धों का एक वंश-वृक्ष तैयार किया है जिससे पता चलता है कि सिद्ध सरहपा से लेकर सिद्ध नारोपा तक इनकी एक ही परंपरा रही होगी और वह बीच से नामों का समावेश करके पूरी की जा सकती है। श्री राहुलजी ने इसके लिए स्वयं भी प्रयत्न किया है और उसमें कहीं-कहीं कुछ अनूदित नामों के मूल रूप भी दे दिये हैं। उक्त ग्रन्थावली में संगृहीत महंतराज फग्‌ सूप, (सन् १२५३-१२७६ ई०) की एक रचना के पृष्ठ '६५ क' पर सरहपाद से लेकर नारोपा तक की परंपरा इस प्रकार दी गई है—१ [महा ब्राह्मण सरह], २ [नागार्जुन], ३ [शबरपा], ४ लूईपा, ५ [दारिकपा], ६ [वज्रघण्टापा], ७ [कूर्मपाद], ८ [जालंधरपा], ९ [कण्हचर्यपा], १० [गुह्यपा], ११ [विजयपा], १२ [तेलोपा] और १३ [नारोपा]। इसके नाम अनूदित हैं।[1] श्री राहुल जी ने चौरासी सिद्धों का एक बड़ा वंश-वृक्ष अलग भी दिया है जिसमें आये हुए ९० से भी अधिक नामों में से केवल ५०-५१ ही ऐसे हैं जो उपर्युक्त चित्रावली में भी पड़ते हैं। शेष के उसमें स्थान नहीं मिलते जिससे प्रकट होता है कि उसमें केवल सरहपा की ही शिष्य-परंपरा के नाम आये हैं। इस कारण, संभव है कि वे अन्य नाम किसी दूसरे वर्ग वा वर्गों से सम्बंध रखते हों। श्री राहुल जी का कहना है कि "इन छूटे हुओं में सरह के वंश से पृथक् का कोई नहीं मालुम होता; इसलिए सरह ही चौरासी सिद्धों का प्रथम पुरुष है।"[2] परंतु अपने इस अनुमान के लिए उन्होंने किसी निश्चित आधार की ओर संकेत नहीं किया है। अतएव, उक्त चित्रावली के चौरासी सिद्धों में से सभी का प्रामाणिक वंश-वृक्ष न होने के कारण वह भी अधूरा ही कहा जा सकता है। उसका महत्व इस बात में

---

१. 'गङ्गा' (पुरातत्त्वांक), पृ० २२०

२. वही, पृ० २२४।

अवश्य हो सकता है कि उसके द्वारा सिद्धों की संख्या चौरासी से अधिक स्पष्ट रूप में प्रमाणित हो जाती है।

सरहपा के, चौरासी सिद्धों में सर्व प्रथम होने का एक, अन्य प्रमाण हमें काज़ी-दव-सम्-दुप द्वारा लिखी गई 'चक्रसंवर' ग्रन्थ की भूमिका में मिलता है जिसमें उन्होंने सरहपा को सर्वोच्च स्थान दिया है। इस सूची को श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने अपने 'बुद्धिष्ट एसोटरिज़्म' ग्रन्थ में उद्धृत किया है[1] और वह श्री राहुल के उपर्युक्त प्रथम वंश-वृक्ष से मिलती-जुलती है। दोनों में अंतर केवल दो एक नामों के सम्बंध में प्रतीत होता है। मुख्य अंतर इस बात का ही है कि लूईपा के अनंतर, काज़ी की सूची में, दारिकपा का नाम नहीं आता और विजयपा के पीछे भी किसी छूटे हुए नाम का स्थान-निर्देश करके फिर सिद्ध तेलोपा का नाम दे दिया गया है। दारिकपा को श्री विनय बाबू किसी भिन्न वंश-वृक्ष में स्थान देते हैं और उन्हें लूईपा की जगह लीलावज्र का शिष्य स्वीकार करते हैं।[2] परंतु दारिकपा ने, अपनी एक चर्या में लूईपा के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए, स्पष्ट शब्दों में कहा है, "मुझ दारिकपा ने लूईपा के चरणों की कृपा से द्वादश भुवनों को प्राप्त कर लिया है"[3] जिससे विदित होता है कि वे लूईपा के ही शिष्य थे। फिर भी श्री विनय बाबू का कहना है कि इस पंक्ति द्वारा दारिकपा लूईपा को केवल उनके आदि सिद्ध होने के नाते संमानित करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। दारिकपा के 'लुईपाअपए' के 'पए' अर्थात् पदेन = 'चरण द्वारा' से

१. डॉ० बी० भट्टाचार्य : एन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट एसोटरिज़्म, मैसूर, १९३२, पृ० ६३।

२. डॉ० भट्टाचार्य: एन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट एसोटरिज़्म, मैसूर १९३२, पृ० ६२।

३. लुईपाअपएं द्वादश भुअणे लाधा—चर्या३४, पृ० १४०।

उनके प्रत्यक्ष संपर्क में आना सूचित होता है। इसके सिवाय इस बात के लिए भी कोई आधार नहीं कि दारिक के समय तक लूई आदि सिद्ध कहलाने लगे थे। लूईपा का आदि सिद्ध कहलाना, संभवतः, उस काल से आरंभ हुआ था जब चौरासी सिद्धों की चित्रावली का निर्माण हुआ और उन चौरासी सिद्धों में भी किसी सांप्रदायिक आग्रह के कारण, लूईपा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया, अन्यथा अधिक प्रमाण इस बात के लिए ही मिलते हैं कि सरहपा लूईपा से कुछ पहले अवश्य हो चुके थे और वे ही आदि सिद्ध भी थे।

सिद्धों की संख्या को चौरासी तक ही सीमित और प्रमाणित करने में उपर्युक्त चित्रावली को बहुत बड़ा महत्व दिया जा सकता है। उससे अन्यत्र सिद्धों के चौरासी नामों की कोई प्रामाणिक तालिका भी उपलब्ध नहीं है। तिब्बतीय ग्रन्थों के आधार पर जो वंश-वृक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें से किसी में भी सभी चौरासी नामों का पता नहीं चलता। ऐसे वंश-वृक्षों में, स्वभावतः, ऐसे अन्य मानों का भी समावेश कर लिया जाता है जिन्हें चौरासी सिद्धों में कोई स्थान नहीं मिला है। चौरासी सिद्धों के सम्बंध में जो सूचियाँ तिब्बत के भिन्न प्रदेशों में निर्मित हुई हैं उनमें भी अन्य नाम संमिलित हो गए हैं। ये नाम अधिकतर उन लोगों के जान पड़ते हैं जो, बौद्ध वा वज्रयानी सिद्ध न होकर, वस्तुतः नाथ-पंथ में प्रसिद्ध हैं। इस चित्रावली की एक विशेषता यह भी जान पड़ती है कि इसमें दिये गए चित्रों में से प्रत्येक में कुछ न कुछ अपूर्वता लक्षित होती है। उदाहरण के लिए कुछ चित्रों में, उनके सिद्धों के नामानुसार, शर का (सरहपा), वीणा (वीणापा), खड्ग (खड्गपा), कुत्ता (कुक्कुरीपा), कमल नाल (नलिनपा), कुठार (कुठालिपा), चंपा (चंपकपा), पुतली (पुतुलिपा), और जूता (पनहपा) अंकित किये गये हैं तो किसी-किसी में, उनके सिद्धों की जीविका के अनुसार, कपड़ा धोना (धोम्भिपा), जूता बनाना (चमरीपा), हल चलाना (मेदिनीपा),

चिड़िया पकड़ना (गुंडरीपा), गाय चराना (चर्पटी), मिट्टी के बर्तन बनाना (कुमरीपा) तथा भीख मांगना (भिखनपा) दिखलाया गया है। इसी प्रकार कुछ चित्रों में जहाँ इन सिद्धों को उपदेशकों के रूप में प्रदर्शित किया गया है (जैसे छत्रपा, भद्रपा, धर्मपा आदि) वहाँ कुछ में इन्हें शासक वा राजा के वेश में चित्रित किया गया है (जैसे कमरिपा, इंद्रभूति, आदि)। चित्रों में इन सिद्धों की वेश-भूषा के अनुसार भी बहुत अंतर लक्षित होता है और उससे प्रतीत होता है कि वे भिन्न-भिन्न स्थानों के निवासी रहे होंगे। इंद्रभूति जैसे राजा को जहाँ मुकुट पहनाया गया है वहाँ कंरोरि, धर्म और भुसुक के सिरों पर कनटोप जैसी टोपी रखी है और वीणापा, कमरिपा, अचिंति, चर्पटी और भलि के सिरों में पगड़ी बाँधी गई है। खुले सिर वालों में से अधिकांश लोग अपने बालों को समेट कर बाँधे हुए दीख पड़ते हैं (जैसे लुईपा, कंकालीपा, शलिपा, भद्रपा, मेदिनीपा, पंकजपा, आदि); किन्तु कुछ लोगों के बाल योंही खुले हुए भी जान पड़ते हैं (जैसे मीनपा, घोम्भिपा, भरेपा, गुंडरीपा, आदि)। इसके सिवाय जहाँ पर इन्हें साधकों के रूप में प्रदर्शित किया गया है, वहाँ भी ये एक ही प्रकार की साधना में लगे नहीं दीखते। गोरक्षपा, कालपा, भलहपा जैसे सिद्धों को जहाँ हाथों की साधारण मुद्राओं के साथ दिखलाया गया है, वहाँ कंकणपा, जालंधरपा, राहुलपा, घंटापा और अनंगपा अपने-अपने आसनों में दीखते हैं। भलिपा एक वृक्ष से टँगे हुए जान पड़ते हैं। धहुलिपा अपना एक पैर बाँधे हुए है, मणिभद्रा और उधलिपा का उड़ना दीख पड़ता है, जयानंद भजनानंदी से प्रतीत होते हैं और मेखला योगिनी, छिन्नमस्ता देवी की भाँति, अपने दाहिने हाथ में तलवार एवं बाएँ में अपने ही मुंड के साथ चित्रित की गई है। इसी प्रकार लुईपा का मछली की अंतड़ी खाना, डोम्भिपा का व्याघ्र के ऊपर सवार होकर सर्प से परिवेष्टित होना, नागार्जुन का सर्पों से घिरा रहना,

नारोपा एवं तेलोपा का शव को पीठ पर लिये रहना जैसी बातें भी विभिन्न साधनाओं को ही सूचित करती हैं। इस चित्रावली में मिलपा एक शूरवीर की भाँति ढोल और तलवार लेकर लड़ने में प्रवृत्त जान पड़ते हैं। परंतु धर्मरिपा अपना मृदंग बजाने में मस्त हैं और अजोगिपा को देखने से प्रतीत होता है कि उन्हें तकिया लगा कर लेटे रहना ही अधिक पसंद है। इस प्रकार का अनुमान इधर डभोई (प्राचीन दर्भावती-गुजरात) में उपलब्ध कतिपय शिल्प-मूर्तियों के आधार पर भी किया गया है। उनसे परिणाम निकालने की चेष्टा की गई है कि अमुक आकृति आदिनाथ की अमुक मत्स्येंद्रनाथ को तथा अन्य भी इसी प्रकार अमुक नाथ सिद्धों की हो सकती है, परंतु इसके लिए अभी यथेष्ट प्रमाणों की कमी है।[1]

उपर्युक्त चित्रों में अनेक ऐसी बातें भरी पड़ी हैं जिनके आधार पर उनके विषय में कुछ न कुछ अनुमान किया जा सकता है। फिर भी इनसे उनके भिन्न-भिन्न संप्रदायों के सम्बंध में यथोचित प्रकाश पड़ता नहीं जान पड़ता। लामा तारानाथ की एक पुस्तक से पता चलता है कि सरहपा, नागार्जुन, शबरी, लुई, डोम्बी, नरोपा और तेलोपा महामुद्रा के प्रभाव द्वारा अनुप्राणित थे, विरूपा, डोम्बी हेरुक जैसे सिद्ध चण्डिका की किसी साधना से प्रभावित थे और इंद्रभूति, अनंगवज्र, आदि कर्म-मुद्रा के साधक थे। इसी प्रकार वज्र घंटापा, वीणापा, कंबल, जालंधर आदि प्रखर किरणों के उपासक थे और गोरखनाथ आदि भी भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्गों वा संप्रदायों में रखे जा सकते हैं। परंतु इस बात को उक्त चित्रावली द्वारा भी प्रमाणित करना कठिन है। इस प्रकार का वर्गीकरण संभवतः उन महान् सिद्धाचार्यों की साधना विशेष पर निर्भर था जिनके अनुगामी अन्य सिद्ध हो जाया करते थे। प्रो० तुशी ने इस परंपरा के अस्तित्व

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं० २०१४, अंक २-३, पृ० ७४

की ओर संकेत करते हुए एक छोटे से पुराने हस्तलेख को भी प्रकाशित किया है और उसे अपने निबंध 'ए संस्कृत बायग्राफ़ी ऑव् दि सिद्धाज़' में स्थान दिया है।[1] उससे भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उस हस्तलेख से पता चलता है कि कई सिद्ध किसी एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न अवतार मान लिये जाते थे। इसके उदाहरण में नागार्जुन का नाम लिया जा सकता है जो दूसरे जन्म में दामोदर कहला कर प्रसिद्ध हुए थे। वे ही फिर अद्वयवज्र भी हो गए थे और उन्हीं को इस हस्तलेख में अन्यत्र रत्नमति नाम दिया गया मिलता है तथा फिर वे नागार्जुन भी कहलाते हैं।[2]

एक दूसरी बात जो उक्त हस्तलेख से प्रकट होती है वह यह है कि एक ही सिद्ध किसी भिन्न संप्रदाय में दीक्षित हो जाने पर उसके अनुसार कोई नवीन उपाधि वा नाम ग्रहण कर लेता था और इस प्रकार क्रमशः कई वर्णों में संमिलित हो जाने से अनेक नामों द्वारा अभिहित किया जा सकता था जिसका एक स्पष्ट उदाहरण उपर्युक्त दामोदर के ही सम्बंध में मिल जाता है। कहते हैं कि दामोदर ने जब अपना 'सम्मितीय निकाय' का अध्ययन समाप्त किया तो वे मैत्रीगुप्त कहे जाने लगे, किन्तु पीछे जब उन्हें वज्रयोगिनी का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया तो वे ही अद्वयवज्र भी बन गए जैसा कि उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों से भी प्रकट होता है। प्रो० तुशी का अनुमान है कि सिद्ध लोग जब कभी नवीन 'अभिषेक' (दीक्षा) ग्रहण करते थे अथवा किसी संप्रदाय में प्रवेश करते थे तो वे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाने लगते थे। इस प्रथा का अस्तित्व तिब्बत के मठों में आज तक भी पाया जाता है। उनके ये नाम आरंभ में उनके द्वारा प्राप्त की गई

---

१. जर्नल ऑव् दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बेंगाल, जि० २६, अंक १, १९३०, पृ० १३८-५५।

२. वही, पृ० १४९-५०।

किसी स्थिति विशेष के प्रतीक माने जाते थे। किन्तु फिर वे बहुधा व्यक्तिगत से भी हो जाते थे।[1] इस प्रकार के नामों की गड़बड़ी का एक परिणाम यह हुआ है कि अनेक महायानी ग्रन्थ जो वस्तुतः आधुनिक वा कम से कम बहुत पीछे के लोगों की रचनाएँ हैं, नाम-साम्य के कारण प्राचीन आचार्यों के नाम से प्रचलित हो गए हैं। इसका एक दूसरा प्रभाव इन सिद्धों के संप्रदायानुसार वर्गीकरण करते समय भी पड़ता प्रतीत होता है। कई व्यक्तियों के नागार्जुन नामधारी होने के कारण सिद्ध नागार्जुन को हम कभी तांत्रिक समझते हैं और कभी प्रसिद्ध दार्शनिक के रूप में देखने लगते हैं तथा कभी-कभी नामसाम्य के कारण नागबोधि तक मानने लगते हैं। सरहपा के राहुल कहलाने, कणेरिपा के आर्यदेव बन जाने तथा भुसुकपा के शांतिदेव होने आदि में भी इस बात के उदाहरण पाये जा सकते हैं।

डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने अपने संपादित 'बौद्ध गान ओ दोहा' की भूमिका में लिखा है[2] कि "सिद्धों के सहज संप्रदाय में तीन मार्ग प्रचलित थे उनमें से एक का नाम 'अवधूती' था जिसका सम्बंध द्वैत ज्ञान से था, दूसरा 'चाण्डाली' था जिसे भी एक प्रकार से द्वैतवादी कह सकते हैं; किन्तु तीसरा जो 'डोम्बी' कहलाता था वह अद्वैत ज्ञान परक था।" परंतु यह वर्गीकरण दार्शनिक आधार पर किया गया जान पड़ता है जो सदा केवल साधनाओं में ही प्रवृत्त रहने वाले सिद्धों के विषय में उतना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। सिद्धों का अधिक युक्तिसंगत वर्गीकरण उनकी सांप्रदायिक विचार-धारा अथवा विभिन्न साधनाओं के अनुसार ही किया जा सकता है। उनकी अपनी विशेषताएँ उनके कोरे चिंतन में लक्षित न होकर उनकी चर्याओं में दीख पड़ती थी। इस प्रकार स्थूल रूप से देखने

---

१. वही, पृ० १३३। २. बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० १२।

पर हमें सर्वप्रथम उनके केवल दो ही वर्ग जान पड़ते हैं जिनमें से एक उन लोगों का समूह है जो पीछे चलकर नाथ-पंथ में भी आचार्य माने गए और दूसरा उनका है जिन का सम्बंध मूल सहजयान से ही रह गया। कुछ लोगों की धारणा है कि चौरासी सिद्धों में कतिपय जैन-साधक भी संमिलित होंगे, किन्तु इसके लिए कोई आधार नहीं बतलाया जाता। जैन धर्म के कई अनुयायियों को 'सिद्ध' की उपाधि बहुधा दे दी जाती रही है और यह ठीक भी कहा जा सकता है, किन्तु इस बात से यह परिणाम भी निकाल लेना कि उनमें से कुछ प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में भी संमिलित रहे होंगे भ्रांतिपूर्ण है। उक्त दो वर्गों में से दूसरे वालों की संख्या अधिक है और उनमें भी विविध आम्नाय वा उप-संप्रदाय बनते चले गये हैं। उदाहरण के लिए जिन सिद्धों की प्रवृत्ति हेवज्रतंत्र की ओर बनी रही वे, एक वर्ग विशेष में गिने जाने लगे, जो युगनद्ध हेरुक के उपासक थे वे एक भिन्न वर्ग में संमिलित किये गए और उसी प्रकार वज्रडाकिनी, वज्रयोगिनी और महामाया के उपासक भी पृथक्-पृथक् समझे जाने लगे। कालचक्र-यान के साथ जिन सिद्धों का संपर्क था वे, इसी के अनुसार एक भिन्न समुदाय की श्रेणी में आ गए और ऐसे आधारों पर विभाजन हो जाने पर केवल कुछ ही ऐसे बच गए जिन्हें, हम शुद्ध सहजयान के अनुयायी कह सकते हैं। फिर भी इस ढंग का वर्गीकरण कभी पूर्ण और प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। एक वर्ग के सिद्ध का किसी दूसरे वर्ग वालों के प्रभाव में आ जाना, कदाचित्, किसी समय भी नहीं रुका और ऐसे परिवर्तन निरंतर होते चले गए। किन्तु उपर्युक्त गुरु-प्रणाली अथवा तांत्रिक साधना की विशेषताएँ सदा गौण होकर ही रहीं और उनका प्रभाव सभी सिद्धों पर स्थायी रूप से नहीं पड़ सका।

ज़ेन संप्रदाय

बौद्ध धर्म का ज़ेन संप्रदाय आजकल चीन देश में और विशेषतः जापान में प्रचलित है। इसका 'ज़ेन' शब्द ही जापानी भाषा का है। जिसका चीनी पर्याय 'शान' (चान) है और कहा जाता है कि यह वस्तुतः उस चीनी शब्द 'ज़ेना' वा 'शाना' (चान्ना) का एक संक्षिप्त रूप है जो संस्कृत भाषा के 'ध्यान' शब्द वा पालि के 'झाण' का रूपांतर है। ध्यान की प्रक्रिया, योग-सूत्रों के अनुसार, किसी एक विषय के साथ बद्ध से बन गए हमारे चित्त की एकतानता सूचित करती है। धारणा द्वारा अधिक प्रगाढ़ एवं प्रबल हो वह, इसके परिणामस्वरूप, क्रमशः विशेष व्यापक भी बनने लग जाता है और उसमें ध्येय वस्तु का स्वरूप ग्रहण करने तथा साथ ही तदाकार बनते जाने की क्षमता आ जाती है।[1] साधना की दृष्टि से किया गया 'ध्यान' शब्द का प्रयोग औपनिषदिक साहित्य में भी पाया जाता है। वहाँ कदाचित् वैसी प्राचीनतम रचनाओं में तो नहीं, किन्तु 'श्वेताश्वतर' 'मैत्रायणी' एवं 'योगोपनिषद्' समझी जाने वाली कई एक में इसकी ओर स्पष्ट संकेत मिलता है।[2] कतिपय प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि स्वयं गौतम बुद्ध ने भी ध्यान की साधना की थी और भिक्षुओं को उपदेश देते समय उन्हों ने इस की चार प्रक्रियाएँ अर्थात् क्रमशः 'वितक्क', 'विचार', 'सुख' तथा 'उपेक्खा' की भी चर्चा की थी।[3] फिर भी ज़ेन संप्रदाय का ज़ेन वा ध्यान कुछ अपनी विशेषताएँ रखता है और वह कई बातों में विलक्षण प्रतीत होता है।

---

१. योगदर्शन (विभूतिपाद, सूत्र-१३)

२. श्वेताश्वतर (अ० १-२) तथा योगोपनिषद् संग्रह (अडयार लायब्रेरी, मद्रास)

३. अंगुत्तर, (८, १, २, १) और मज्झिम निकाय।

ज़ेन संप्रदाय वालों में प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार उसके आरंभ का इतिहास स्वयं शाक्य मुनि के ही साथ जुड़ा हुआ है। कहते हैं कि एक समय जब वे गृद्धकूट पर्वत पर बैठे भिक्षुओं के सामने प्रवचन दे रहे थे, किसी 'ब्रह्मराज' ने आकर उन्हें सुनहले फूलों का कोई गुच्छा भेंट किया जिसे उन्होंने अपने हाथ में लेकर ऊपर उठाया और मौन-भाव में ही उसकी ओर बड़े ध्यान से देखा। इस बात के वास्तविक रहस्य को वहाँ के उपस्थित लोगों में से कदाचित् कोई भी व्यक्ति नहीं समझ पाया। केवल उनके पट्टशिष्य वृद्ध महा-कस्सप ने इस पर धीरे से मुस्करा दिया जिस कारण शाक्य मुनि ने उनसे कह दिया, "मैं तुम्हें आज अपनी अनमोल आध्यात्मिक निधि सौंपता हूँ" और ज़ेन संप्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है, कि इस घटना द्वारा उनके मत का गूढ़तम आशय प्रकट हो गया। किन्तु आश्चर्य की बात है कि भारतीय बौद्ध परंपरा ऐसी किसी घटना का संकेत करती कहीं भी नहीं पायी जाती और चीन देश में भी इसकी चर्चा सर्वप्रथम केवल उस धार्मिक इतिहास में ही मिलती है जिसकी रचना सन् १०२९ ई० में हुई थी। सन् १००४ ई० तक में लिखे गए ऐसे प्रसिद्ध ग्रन्थों में इसका पता नहीं चलता, न इसका कहीं कोई प्रासंगिक उल्लेख तक पाया जाता है। फिर भी अनुमान किया जाता है कि ऐसी कथाओं का प्रचार संभवतः उस काल से ही आरंभ हो गया होगा जब ईसा की आठवीं शताब्दी तक ज़ेन संप्रदाय, चीन देश के अंतर्गत, पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो चुका था।[1]

इस संप्रदाय के मत को चीन देश में सर्वप्रथम प्रचलित करने का श्रेय बोधिर्म को दिया जाता है जो वहाँ सन् ५२० वा ५२६ ई० में

---

4. Dr. D. T. Suzuki : Essays in Zen Budhism (First Series) Page 166

गये थे। बोधिधर्म एक भारतीय भिक्षु थे जिन्हें साधारणतः चीन देश में 'तामो' तथा जापान में 'दारुमा' कहते हैं और ये शब्द 'धर्म' के सूचक हैं। वहाँ के चित्रों में इन्हें बहुधा एक ऐसे व्यक्ति के रूप में दिखलाया जाता है जिसे दाढ़ी है और जिसके कंधे पर डंडे से एक खड़ाऊँ लटक रही है। इनके लिए प्रसिद्ध है कि ये दक्षिण भारत के कांची वा कांचीवरम् नगर के किसी राजा के लड़के थे। ये वहाँ से यात्रा में निकलकर पहले दक्षिण सागर के टापुओं, संभवतः इन्दोनेशिया, की ओर गए और वहाँ बौद्ध धर्म के 'ध्यान' संप्रदाय में दीक्षित हो गए। इन्हें उधर इतनी प्रतिष्ठा मिल गई कि ये स्वयं शाक्य मुनि के भी उत्तरीय तथा भिक्षापात्र ग्रहण करने के योग्य समझे जाने लगे और इन्हें, इसी के आधार पर, उनकी आचार्य-परंपरा का २८ वाँ कुलपति तक स्वीकार कर लिया गया। वहाँ से ये फिर समुद्री यात्रा करते हुए उत्तर की ओर चले और दक्षिणी चीन के कैंटन में पहुँच कर वहाँ उतर गये।

चीन देश में उपलब्ध इतिवृत्तों से पता चलता है कि बोधिधर्म का वहाँ के सम्राट् 'वु' ने अच्छा स्वागत किया। उन्होंने इनसे आदरपूर्वक प्रश्न किये जिनके उत्तर इन्होंने विचित्र ढंग से दिये। जब उन्होंने पूछा, "गद्दी पर बैठने के समय से आज तक मैंने कई बौद्ध मंदिर बनवाये हैं, भिक्षुओं-भिक्षुणियों की सहायता की है और धर्म-ग्रन्थों की प्रतिलिपि तक पूरी की है, कहिए मैंने इन सत्कार्यों द्वारा कितने पुण्य का अर्जन किया होगा?" तो इसके उत्तर में बोधिधर्म ने उन्हें बतलाया कि "कुछ भी नहीं, यह सब कुछ व्यर्थ है।" और, इसी प्रकार, उनके यह पूछने पर कि "बौद्ध धर्म का मूल क्या है?" इन्होंने उनसे 'शून्यमात्र' कह दिया। यहाँ तक कि सम्राट् के यह पूछने पर भी कि "मुझे इस प्रकार के उत्तर कौन दे रहा है?" इन्होंने स्पष्ट कह दिया कि "मुझे पता नहीं।" इस महापुरुष के विषय में यह भी कहा जाता है कि पीछे एक बार जब इनके किसी

आर्त्त शिष्या ने इनसे प्रार्थना की कि "कृपया मेरे चित्त में शांति ला दीजिए" तो ये उस प्रार्थी से, जो इनके समक्ष केवल पहुँच पाने तक के लिए सात दिन तक बर्फीले मैदान में प्रतीक्षा कर चुका था, तत्क्षण पूछ बैठे कि "तुम पहले अपना चित्त मेरे सामने क्यों नहीं रखते ?" और जब उसने बतलाया कि "मैं गत कई वर्षों से उसे पा सकने में असमर्थ हूँ।" तो इन्होंने उस से कहा कि "ठीक है, अब तुम्हारा चित्त सदा के लिए शांत हो गया"। कहते हैं कि इस उत्तर द्वारा उसे पूर्ण बोध हो गया और बोधिधर्म ने फिर उसके नाम को भी 'कुअंग' से बदल कर 'हुइके' करा दिया।

कहते हैं कि हुइके ही आगे चल कर, बोधिधर्म के पश्चात् ज़ेन संप्रदाय का द्वितीय कुलपति स्वीकृत हुआ। वह एक बहुत बड़ा विद्वान्, किन्तु विनम्र व्यक्ति था और वह अत्यंत साधारण वेश में ही रहकर अपने सिद्धांतों का प्रचार किया करता था। साधारण जनता के बीच प्रवचन देते समय, वह किसी दिन पकड़ लिया गया और मठ के पुजारियों ने उसे प्राणदंड दिला दिया। हुइके के अनंतर होने वाले चौथे कुलपति ताओसिन (सन् ५८०-८१) के समय ज़ेन संप्रदाय के अंतर्गत दो उप-संप्रदायों की सृष्टि हो गई जिनमें से एक तो अपने संस्थापक काजुंग की मृत्यु के अनंतर बहुत दिनों तक नहीं चल सका, किन्तु दूसरा, जिसकी स्थापना हुंगज़ेन ने की थी और जिस के अनुयायी हुइनेंग के समय से इस मत के रूप में विशेष परिवर्तन हो गए, आज तक प्रतिष्ठित है। हुँगजेन ज़ेन संप्रदाय के पाँचवें कुलपति कहे जाते हैं और उनके समय तक इसके अनुयायियों की संख्या बहुत कुछ बढ़ चुकी थी। उनके एक शिष्य ने, जिस का नाम जिंसू था और जो एक प्रकांड विद्वान् भी था, एक दिन मठ की बाहरी दीवार पर एक पद्य लिख दिया जिसका आशय यह था—

"यह शरीर बोधि वृक्ष है, आत्मा उज्वल दर्पण के समान है,

उसे सर्वदा स्वच्छ रखने की चेष्टा करो और उस पर किसी प्रकार की धूल न जमा होने दो।"

जिस किसी ने इसे पढ़ा वह इस से अत्यंत प्रभावित हुआ और उसने इसके रचयिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। परंतु दूसरे ही दिन उक्त पद्य के पास एक अन्य पद्य भी लिखा हुआ पाया गया जिसका आशय इस प्रकार का था—

"यह शरीर बोधि वृक्ष के समान नहीं है और न उज्वल दर्पण कहीं प्रकाशित ही हो रहा है। जब पहले से ही कुछ भी विद्यमान नहीं था तो धूल कहाँ पर जमा हो सकती है।"

इसे पढ़ कर लोग अत्यंत चकित हो गए। इस दूसरे पद्य का रचयिता हुइनेंग था जो एक साधारण किसान था और जो संभवतः कुछ पढ़ा-लिखा भी नहीं था।

हुइनेंग (सन् ६३८-७१३ ई०) दक्षिण चीन का निवासी था और युवावस्था से ही लकड़ी बेचने का व्यवसाय करता था। उसका पिता जीवित नहीं था, इसलिए उसे ही इस प्रकार द्रव्य जुटाकर किसी ढंग से अपनी वृद्धि माता का भरण-पोषण करना पड़ता था। उसने एक दिन लकड़ी बेचते समय किसी के मुख से 'वज्रछेदिक सूत्र' के किसी अंश का पारायण सुना। उसका उस पर मर्मस्पर्शी प्रभाव पड़ा और वह उसके मूल की खोज में एक मास की यात्रा करता हुआ हुंग-ज़ेन के आश्रम तक पहुँच गया। उसने कुलपति से भेंट की और उनसे, बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग बतलाने की प्रार्थना करता हुआ, वह उनकी शरण में जा गिरा। उपर्युक्त पद्य की रचना ने, अंत में, उसका उतना मान बढ़ाया कि स्वयं हुंगज़ेन तक को एक दिन उसे एकांत में बुलाकर अपने कुलपति के सारे चिह्न उसे दे देने पड़े। हुंगज़ेन ने ऐसा करते समय उसे यह परामर्श भी दिया कि अभी कुछ दिनों तक तुम अपने को गुप्त रखना और जब तक उपयुक्त अवसर न आ जाय, सर्वसाधारण के बीच उपस्थित होकर अपने प्रवचन न देने

लगना। उन्होंने यह भी कह दिया कि हुइनेंग अपने पीछे किसी दूसरे को कुलपति के पद का अधिकारी भी न घोषित करेगा। अत-एव, हुइनेंग ज़ेन संप्रदाय के छठें अथवा अंतिम कुलपति के रूप में प्रसिद्ध हैं और उसी को इसके मत को विशुद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप देने वाला भी बतलाया जाता है।

फिर भी हुइनेंग द्वारा उपदिष्ट ज़ेन सिद्धांतों एवं साधनाओं का अधिक प्रचार केवल दक्षिणी चीन तक ही सीमित रहा। उत्तरी चीन में ज़ेन संप्रदाय की एक अन्य शाखा, उपर्युक्त जिसू के नेतृत्व में, प्रचलित हुई इसके सिवाय, इन दो उप-संप्रदायों के अतिरिक्त, कतिपय अन्य ऐसे पंथ भी उन दिनों प्रचलित थे जिनका सम्बंध बोधिधर्म की परंपरा के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, किन्तु जिनके मतों की प्रमुख बातें ज़ेन के सिद्धांतों जैसी थीं तथा, इसी कारण, जिनकी गणना बहुधा इसी संप्रदाय के साथ की जाती है। ऐसे छोटे-छोटे, किन्तु विशेष प्रभावशाली संप्रदायों में 'तेंदई' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसका एक प्रसिद्ध प्रचा-रक 'ची-आई' दार्शनिक भी था जिसने अपने मत की पुष्टि में, बहुत से तत्वज्ञान-विषयक तर्क-वितर्कों के आधार पर, गूढ़ शास्त्रीय चिंतन को भी प्रोत्साहन दे दिया। ऐसे कई पंथों का प्रचार ईसा की छठीं एवं सातवीं शताब्दियों से ही होने लग गया था। कुछ कारणों से फिर आगे भी इनमें कमी नहीं आयी। बारहवीं शताब्दी तक ज़ेन संप्रदाय चीन से जापान देश तक पहुँच गया, जहाँ पर इसका और भी अधिक स्वागत हुआ। यहाँ पर यह उस देश की सांस्कृतिक अभिवृद्धि में भी बहुत बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। जापान की 'सुमिये' नामक चित्र-कला तथा उसकी 'हयकू' नामक काव्य-परंपरा के उद्गम एवं विकास का आधार वास्तुतः ज़ेन संप्रदाय की ही भाव-धारा को माना करते हैं और उस देश अथवा चीन तक के बौद्ध धर्म के सर्वप्रमुख प्रतिनिधि रूप में इस मत को ही स्वीकार किया जाता है।

ज़ेन संप्रदाय के मूल सिद्धांत और उसकी विशिष्ट साधना-पद्धति

का भी परिचय उन दो-चार पंक्तियों द्वारा दिया जा सकता है जो बोधिधर्म के संदेश रूप में आज भी प्रचलित हैं और जिनके अनुसार-- "बुद्धत्व की वास्तविक उपलब्धि अपने मूल वा सहज रूप का प्रत्यक्षीकरण है, अतः इसके लिए जो भी संकेत दिया जा सकता है उसे साधक के सीधे मर्मस्थल को स्पर्श करना चाहिए; वह स्वभावतः धर्म-ग्रन्थों के बाहर की बात होगी और विलक्षण भी होगी। उसके लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह किन्हीं शब्दों अथवा अक्षरों के द्वारा ही प्रकट की जाय।"

कहते हैं कि स्वयं बोधिधर्म ने अपनी साधना, कई वर्षों तक एक दीवार की ओर निरंतर अपना ध्यान जमाते हुए की थी। 'ज़ेन' वा 'ध्यान' शब्द का प्रयोग, सर्वप्रथम, कदाचित् ऐसी ही किसी बात के आधार पर किया भी गया होगा। इस संप्रदाय की उत्तरी चीन वाली शाखा के अनुयायियों का भी यही कहना है कि इस प्रकार की ध्यान-साधना द्वारा ही क्रमशः बुद्धत्व की उपलब्धि संभव है। किन्तु दक्षिणी चीन के ज़ेन मतावलंबी इसे प्रायः कुछ भी महत्व देना नहीं चाहते। इनका कहना है कि ध्यान की प्रक्रिया द्वारा केवल अपने चित्त पर जमे हुए मल को क्रमशः दूर करके उसे विशुद्ध कर दिया जा सकता है। इसका मूल्य केवल एक महत्वपूर्ण साधना होने मात्र में हैं, इसे अंतिम साध्य अर्थात् 'बोधि' वा बुद्धत्व की उपलब्धि का स्थान नहीं दे सकते। 'बोधि' वह चरम स्थिति है जिसमें न केवल हमें अपने सहज रूप का पूर्णबोध हो जाता है, अपितु जिसके द्वारा जीवन में आमूल परिवर्तन भी हो जाता है। वह कहीं से आने वाली बाहरी वस्तु नहीं और न किन्हीं क्रमिक प्रयत्नों का परिणाम ही है। वह अपने भीतर आकस्मिक रूप से और अपने आप, जाग्रत हो जाती है जिसके लिए केवल एक साधारण सी घटना का संकेत भी पर्याप्त है।

'बोधि' 'यथाभूतम्' या वस्तुस्थिति की सहज अनुभूति है और

वह साधारण 'ज्ञान' से नितांत भिन्न कही जा सकती है। ज्ञान की दशा के लिए साधारणतः किसी एक 'ज्ञाता' एवं किसी एक अन्य 'ज्ञेय' वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। यह बुद्धि के साधन से उपलब्ध होता है जो, बहुधा तर्क-वितर्क का सहारा लेती हुई, समाधान के बल पर निश्चय किया करती है। यह 'ज्ञेय' विषय में प्रवेश करना चाहती है उसके बाह्य रूप को परखती है, उसका मानसिक विश्लेषण कर, उसके प्रत्येक अंश का संतुलन और तुलनात्मक अध्ययन कर तथा इस से कोई परिणाम निकालती हुई उसे समझ पाने की चेष्टा करती है। यह आवश्यक नहीं कि ऐसे सभी प्रयत्न पृथक्-पृथक् और किसी एक क्रम विशेष में ही किये जायँ और वे सर्वथा स्पष्ट भी रहें। केवल इतना कहा जा सकता है कि, इन सभी के एक साथ और क्रम-हीन रूप में रहते हुए भी सारी क्रिया का फल भेद-शून्य नहीं हो पाता बुद्धि के आधार पर उपलब्ध ज्ञान में 'ज्ञाता' एवं 'ज्ञेय' विषय का भेद बना रह जाता है। परंतु बोधि नामक अनुभूति के लिए न बुद्धि का आश्रय अपेक्षित है, न इसकी चरम स्थिति में किसी वैसे भेद की प्रतीति का होना ही संभव है।

बोधि की दशा उस प्रज्ञा जन्य अंर्तदृष्टि का परिणाम है जो सीधे वस्तु-तत्व के अंतस्तल तक प्रवेश कर जाती है। इसके लिए किसी तर्क वा अनुमान की प्रक्रिया आवश्यक नहीं, न कोई विचार-विमर्श ही अपेक्षित है। इसमें न कोई विश्लेषण है, न तुलनात्मक चिंतन है, न आगे-पीछे सोचना है और न किसी निर्णय पर पहुँचना है; केवल प्रत्यक्ष देख लेना ही सभी कुछ है। इसमें कोरा एकमात्र संकल्प है, किसी विकल्प के लिए यहाँ स्थान नहीं, न किसी प्रकार के संदेह की ही संभावना है। बुद्धि के लिए कहा जा सकता है कि वह तटस्थ होकर काम करती है और प्रत्येक बात को यथोचित रूप में पृथक्-पृथक् रहने देना भी चाहती है। अतएव,

बुद्धि जन्य ज्ञान को हम सापेक्ष भी कह सकते हैं जहाँ प्रज्ञा जन्य अपरोक्ष ज्ञान सदा निरपेक्ष ही हो सकता है। इसमें केवल एकमात्र 'ईक्षण' होगा और 'एकचित्त' की ही अन्विति में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान तक का अभेद परक समावेश रहा करेगा। यह बोधि की दशा किसी वाह्य वस्तु की अनुभूति न होकर, वस्तुतः उस अनिर्वचनीय स्थिति की ही बोधिका है जिसे 'स्वानुभूति' कहा करते हैं। परंतु इसका 'स्व' किसी आत्म-तत्व का बोधक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बौद्ध दर्शन के अनुसार उसका कोई अस्तित्व नहीं है। फिर भी इस प्रकार बोध के हो जाते ही सारे जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बदल जाता है और उसमें पूरी काया-पलट आ जाती है।

इस 'बोधि' वा दूसरे शब्दों में, 'अनुत्तर सम्यक् संबोधि' को ही जापान के ज़ेन मतावलंबी 'सतोरी' का नाम देते हैं। सतोरी वह अंतर्दृष्टि है जो वस्तु-तत्व के प्रति नितांत सहज एवं प्रमाण-निरपेक्ष रूप में काम करे और इसी कारण जो संपूर्ण जीवन से भी सम्बद्ध हो। इसके द्वारा अपने भीतर न केवल एक विलक्षण क्रांति उत्पन्न हो जाती है, अपितु अपना एक नवीन पारमार्थिक मूल्यांकन तक सिद्ध हो जाता है सतोरी हमें पुनर्जीवन प्रदान करती है। इसके परिणाम स्वरूप हमारे लिए एक 'तीसरा नेत्र' जैसा साधन मिल जाता है जिससे हम प्रत्येक बात को नये ढंग से देखने लगते हैं। वास्तव में यह ज़ेन मतानुसार, सत्य के वास्तविक रहस्य की उपलब्धि है जिससे कोई भी दूसरी अनुभूति अधिक प्रामाणिक नहीं हो सकती। यह 'अविद्या' की दशा का 'संबोधि' के रूप में परिवर्तित हो जाना है और 'भूततथता' का अपरोक्ष अनुभव कर लेना है जिसके परिणाम-स्वरूप समग्र जीवन-दृष्टि 'परिवृत' होकर वा उलट कर और-की-और बन जाती है।

इस अंतिम सिद्धि को प्राप्त करने के लिए ज़ेनमत वाले प्रायः तीन प्रकार की युक्तियों का आश्रय लेते हैं। इनमें से पहला

उपाय किसी खड़ी दीवार की ओर शून्यभाव के साथ निरंतर एकटक देखना है जो वस्तुतः दीवार का देखना न होकर, वैसी दीवार की भाँति स्तब्ध एवं शांत रहकर अपने चित्त के रहस्य की ओर सम्यक् ध्यान देना कहला सकता है। ज़ेन संप्रदाय के प्रथम कुलपति बोधि-धर्म ने यही साधना निरंतर कई वर्षों तक की थी और इसे ही पहले उनके अनेक अनुयायियों ने भी अपनाया था। परंतु चीन के साधकों ने पीछे इसकी अपेक्षा दो अन्य उपायों को कहीं अधिक महत्व देना आरंभ कर दिया। इन दोनों में से एक का नाम 'प्रश्नोत्तर-पद्धति' (मोंदो) है और दूसरे को 'पहेली का अभ्यास' (कोअन) कहते हैं। मोंदो की प्रणाली गुरु द्वारा किये गए विकट से विकट प्रश्न का तत्क्षण उत्तर चाहती है और इसके लिए एक सेकंड के शतांश का भी अवकाश नहीं लेने देती। उदाहरण के लिए यदि गुरु अपने हाथ की छड़ी को सामने दिखला कर अपने शिष्य से कह बैठे, "इसे छड़ी न कहो, यदि ऐसा करते हो तो स्वीकृति होगी। इस का छड़ी होना अस्वीकार न करो क्योंकि ऐसा करना अस्वीकृति हो जायगी। बिना किसी स्वीकृति वा अस्वीकृति का भाव मन में लाये बोलो, बोलो, शीघ्र बोलो" तो निश्चय है कि यह कोई ऊट-पटांग उत्तर ही दे दो। आवश्यक यह है कि यह शिष्य उसे केवल वैसा ही उत्तर दे सके जो उसके मुख से स्वभावतः अर्थात् बिना कुछ भी चिंतन किये ही निकल जाये।

'कोअन' का अभ्यास कुछ और ही प्रकार का होता है और वह इस से नितांत भिन्न भी कहा जा सकता है। कोअन में कोई-न-कोई अटपटी पहेली दे दी जाती है और गुरु या निर्देशक चाहता है कि उसका शिष्य उसे सुलझा कर उस में अंतर्निहित रहस्य को हृदयं-गम कर ले। पहेली की बातें परस्पर विरोधी जान पड़ती हैं, किन्तु फिर भी, उन्हीं के आधार पर शिष्य को उपदिष्ट कार्य भी करना रहता है। वह बड़े फेर में पड़ जाता है और वह उस की उधेड़-बुन

में लगकर बहुधा हार मान कर बैठ भी जा सकता है। परंतु, ऐसे प्रयत्नों में व्यस्त रहते समय ही, उसे कभी एक ऐसी बात सूझ जाती है जिसकी ओर उसका ध्यान कभी नहीं गया था, जिसके दृष्टि में आते ही वह अचानक आनंद में आकर उछल पड़ता है और पूर्णतः गद्गद होकर झूमने लग जाता है। वास्तव में कोअन का प्रयोग किसी की समझ की परीक्षा लेने के लिए ही होता है और वह या तो किसी प्राचीन महापुरुष के कथन के रूप से होता है अथवा किसी ऐसे उत्तर के रूप में भी हो सकता है जो उसने, किसी महत्त्व-पूर्ण प्रश्न के पूछे जाने पर, संक्षिप्त रूप में दे दिया हो। इसके पीछे गहरी अनुभूति का परिणाम छिपा रहता है जो शब्दों के जाल में स्पष्टतः लक्षित नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए यदि कोई यह कहे कि, "सारे पदार्थ केवल 'एक' में अपचित किये जा सकते हैं, किन्तु वह 'एक' ही कहाँ है जिस का अपचय किया जाए ?" और इसके उत्तर में बतलाया जाय कि "जब मैं अमुक प्रदेश में था तो मैंने एक पहनावा बना लिया था जो बहुत भारी था" तो यह कोअन कहला सकेगा, क्योंकि प्रश्न एवं उत्तर दोनों असम्बद्ध से लगते हैं, किन्तु ज़ेनमत के साधकों के अनुसार, इसी में पूर्ण तथ्य भी आ गया है।

इस प्रकार सतोरी अथवा बोधि की उपलब्धि के लिए किसी दार्शनिक चिंतन की आवश्यकता नहीं समझी जाती। इसकी अनुभूति के पहले किसी भी प्रकार की भावना का उपयोग में लाना ही व्यर्थ है, चाहे वह निर्वाण की ही क्यों न हो। इसमें सीधे उस बाँध को तोड़ कर उड़ा देना है जिसके कारण हमारी सम्यक् दृष्टि का सहज प्रकार रुका हुआ है और इसे पूर्ण रूप से अव्यवहित कर देना है। यह एक व्यावहारिक प्रयोग की अपेक्षा करता है जिससे सारी बातें सीधे जीवन में उतर आ सकें और उस में ओतप्रोत बनी रह जायँ। इसके लिए न तो कोई विस्तृत अध्ययन चाहिए, न किसी दीर्घकालीन आध्यात्मिक साधना की ही आवश्यकता पड़

सकती है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर पूर्ण बुद्धत्व प्राप्त करने की क्षमता स्वभावतः निहित है, उसे एक बार केवल जाग्रत भर कर देना है। यह कार्य किसी योग्य निर्देशक द्वारा केवल एक झटके से भी पूरा किया जा सकता है, किन्तु उसे ऐसा होना चाहिए जो हमें पूरा झकझोर दे। तभी यह संभव है कि हमारा मर्म-स्थल तक प्रभावित हो सकेगा और हमारे अंतर्जीवन की जटिल गुत्थियों पर पूर्ण प्रकाश पड़ सकेगा। निर्देशक का काम पहले केवल यही देख लेना है कि जिस व्यक्ति पर प्रयोग करते हैं उसके प्रत्यक्ष जीवन के ताने-बाने किस प्रकार बुने हुए हैं, उस पर पड़ा हुआ आवरण किस प्रकार का है और कैसा झटका देकर उसे हम तत्क्षण निरावृत्त कर सकते हैं। उसे कुछ बाहर से देना नहीं पड़ता, न कहीं बाहर का मार्ग ही दिखलाना होता है। वह केवल एक संकेत मात्र से किसी व्यक्ति की अपनी ही वास्तविक स्थिति को झट सुलझा भर देता है जिससे वह सजग बनकर सही मार्ग पर आ जाय।

(३)

ज़ेन साधकों के लिए प्रयोग में आने वाले उपर्युक्त कोअन वाक्यों की चर्चा करते हुए, अर्नेस्ट उड ने कहा है "आचार्य गौडपाद ने 'माण्डूक्योपनिषद्' पर लिखी अपनी टीका में जहाँ बतलाया है कि 'कोई अंत नहीं, कोई सृष्टि नहीं, कोई बंधन नहीं, न सृष्टि-कर्ता है, न साधक है और न कोई मुक्त ही होता है—यही वास्तविक ज्ञान है और फिर इसी क्रम में जो उन्होंने आगे भी 'और नहीं, नहीं' तथा 'यही वस्तु-स्थिति है' लिखा है वह संयोगवश किसी कोअन का ही सुंदर उदाहरण बन गया है।"[1] यहाँ पर लेखक संभवतः गौडपादाचार्य की उस कारिका की ओर संकेत करता है जिसमें उन्होंने

1. Ernest Wood : Great System of Yoga (Poilosophical Library. New York, 1954.)

'परमार्थता' की परिभाषा दी है[1], और वह फिर उसके आगे की कारिकाओं में आये प्रासंगिक उल्लेखों की ओर भी ध्यान दिलाना चाहता है। वास्तव में औपनिषदिक साहित्य के अंतर्गत बहुत से ऐसे स्थल मिल सकते हैं जो न केवल कोअनों से, अपितु उपर्युक्त मोदों से भी सादृश्य रखते हैं। इसके सिवाय पातंजल योग दर्शन द्वारा पता चलता है कि जिस प्रज्ञा के साधन से बोधि की उपलब्धि संभव है वह भी कदाचित् उस 'प्रज्ञालोक' से भिन्न नहीं जो क्रमशः धारणा, ध्यान एवं समाधि इन तीनों के 'एकत्र संयम' का परिणाम है।[2] अंतर प्रधानतः, इतना ही जान पड़ता है कि, ज़ेनमत के अनुयायियों ने ऐसी सभी बातों को अधिक व्यावहारिक और सद्यः परिणामी रूप दे दिया है।

यों तो ज़ेन मतावलंबी किसी प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ को अपनी मान्यताओं के लिए आधार मानते नहीं जान पड़ते, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लंकावतार सूत्र' 'वज्रछेदिक सूत्र' आदि कुछ ऐसे हैं जिनका उन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। इसके सिवाय उनकी दार्शनिक विचारधारा के सम्यक् अनुशीलन द्वारा यह भी स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि वह वस्तुतः उस मूलस्रोत का ही एक विकसित रूप है जो कभी शून्यवाद एवं विज्ञानवाद के माध्यमों से प्रवाहित होता आया था।[3] भारत में उसने तांत्रिक प्रभावों में आकर विभिन्न 'यानों' के रूप धारण किये और यहाँ के वेदांत दर्शन

---

१. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त, इत्येषा परमार्थता॥
माण्डूक्य कारिका' वैतथ्यप्रकरण, ३२॥

२. योगसूत्र (विभूतिपाद, ४-५)।

3. Dr. Radhakrishnan : History of Philosophy Eastern and Western (London) Vol. I., p. 578.

तक को कुछ अंशों में प्रभावित किया। चीन में बोधिधर्म के पहुँचने के पहले से ही, हुई युश्रन (सन् ३३३–४१६ ई०) द्वारा अमिताभ के प्रति प्रगाढ़ भक्ति प्रदर्शित कराने वाला तथा किसी 'पुनीतलोक' में आस्था रखने वाला 'लुशन संप्रदाय' प्रतिष्ठित किया जा चुका था और वह 'ध्यान' की साधना को महत्व देता था। हुई युश्रन ताओ धर्म का भी उपासक रह चुका था जिस कारण उसके इस मत में चीनी जाति की विशिष्ट परंपरा भी काम कर रही थी। ज़ेन संप्रदाय ऐसी सभी बातों के लिए उसका ऋणी ठहराया जा सकता है, किन्तु फिर भी, उसमें कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। उसके प्रमुख सिद्धांतों पर एक अनोखी व्यावहारिकता की छाप लगी हुई है, उसकी साधना में वाह्य विडंबनाओं का नितांत अभाव है और सबसे बढ़कर उसने, एक विशुद्ध प्रवृत्तिमार्गी जीवन को ही विशेष महत्व देकर, अपने अनुयायियों को 'पारलौकिकता' के भुलावों से बचाया है।

बौद्ध धर्म के इस संप्रदाय की बहुत सी बातें उत्तरी भारत के प्रसिद्ध संतमत से मिलती-जुलती जान पड़ती हैं। उसके अनुयायी, कबीर साहब आदि संतों की भांति, शास्त्रों वा धर्म-ग्रन्थों का आश्रय लेना ठीक नहीं समझते। वे किसी गुरु वा निर्देशक के प्रति पूरी आस्था रखते हैं, किन्तु परावलंबी बनकर नहीं रहना चाहते। संतों की ही भाँति वे उससे 'जुगुति' संकेत ग्रहण करते हैं और, प्रायः एक ही प्रकार, उनसे प्रभावित हो अपने जीवन में काया-पलट आ जाने का अनुभव भी किया करते हैं। ज़ेनमत वालों द्वारा उपलब्ध की जाने वाली 'सतोरी' वा बोधि की दशा भी संतों की सहजानुभूति से बहुत भिन्न नहीं है। इस सम्बंध में जो सबसे उल्लेखनीय अंतर है वह यह है, कि ज़ेनमत वाले जहाँ उसे किसी स्थिति विशेष के ही रूप में सीमित रखने की ओर प्रवृत्त जान पड़ते हैं, वहाँ संतों ने उसे एक अनिर्वचनीय परमात्म-तत्व के रूप में भी स्वीकार कर उसे व्यक्तित्व तक प्रदान कर दिया है। अतएव, संतमत में जितना

भक्तिभाव तथा प्रेमरस का आग्रह दीख पड़ता है उतना जैनमत में नहीं है। उसमें संतों की नामस्मरण-साधना भी, नेम्बुत्सु के रूप में, विद्यमान है जिससे बुद्ध का चिंतन करने की प्रतीति हो सकती है, किन्तु इन दोनों की प्रक्रियाओं में कुछ अंतर भी है। जैन मत वाले भी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति में संतों की भाँति प्रतीकों के प्रयोग करते हैं और उलटबासियाँ तक कहने लगते हैं, जैसे "मैं खाली हाथ हूँ, किन्तु फावड़ा मेरे हाथ में है, मैं पैदल चलता हूँ, किन्तु बैल पर सवार हूँ, जब मैं पुल से पार करता हूँ तो पानी नहीं बहता है, पुल ही बहा जा रहा है।"

बौद्ध धर्म की विदेश-यात्रा

बौद्ध धर्म के प्रचार-कार्य की नीवँ, उसके उदय के लगभग साथ ही, पड़ गयी थी। उसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने अपना धम्मचक्कपवत्तन वाला उपदेश देने के कुछ ही अनंतर अपने अनुयायियों को उसके प्रचारार्थ चारों ओर भेजना आरंभ कर दिया था। इन प्रचारकों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था, "भिक्खुओं, जाओ, बहुजन हित के उद्देश्य से जाओ, और विश्व के कल्याणार्थ, प्रयत्न करो। इस उत्कृष्ट मत की सर्वत्र घोषणा करो और पूर्ण एवं पवित्र जीवन का उपदेश देना आरंभ कर दो।" फिर, "इस मार्ग की ओर उस सम-कालीन नक्षत्र की भाँति अंगुलि-निर्देश करो जो अंधकार में पड़े हुए यात्रियों का चाहे अपने धीमे प्रकाश द्वारा ही क्यों न हो, पथ-प्रदर्शन किया करता है; ऐसे पथिकों को प्रकाश दो, उन्हें शांति प्रदान करो और ज्ञान के लिए आर्त-मानवों को 'धम्मं के सुनने का अवसर दो।" इस प्रकार तथागत के उपदेशों का वास्तविक उद्देश्य जीवन-दर्शन का निर्माण करना था और जीवन के प्रति उन्मुख होने का एक दृष्टिकोण सबके लिए प्रस्तुत कर देना था। उनके कथन की शैली प्रवचनों के रूप में रहा करती थी, किन्तु उसके अनंतर विचार-विनिमय भी हुआ करता था। केवल इस बात की चेष्टा की जाती थी कि श्रोताओं को अपने आप सोचने तथा तदनुसार आचरण करने की प्रेरणा दी जाय। बौद्ध धर्म के लिए, इसी कारण, किसी जटिल विधान अथवा परोक्ष सत्ता की मान्यता भी आवश्यक नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्धार के लिए स्वयमेव समर्थ समझा जाता था। अतएव, अपने आरंभ काल से ही, यह धर्म एक ऐसे रूप में प्रचलित होने लगा, जो एक ही साथ सुगम और सार्वजनीन भी था।

बौद्ध धर्म के प्रचार-कार्य में, तथागत का परिनिर्वाण होने पर भी,

किसी प्रकार का ढीलापन नहीं आने पाया। जहाँ तक पता चलता है, उनके आदेशों का पालन, उनके शिष्यों द्वारा, सदा होता आया और यह धर्म क्रमशः बल ग्रहण करता गया। सम्राट् अशोक (रा० का० वि० पूर्व सं० ३३०-२६०) के समय तक इसका प्रभाव कम से कम उत्तरी भारत में, अवश्य जम चुका था। फलतः अपनी कलिंग-विजय (वि० पू० सं० ३६८) के अनंतर, इस ओर वे आकृष्ट हो गये और उन्होंने इसे न केवल स्वयं अपनाया तथा इसे अपना राजधर्म बनाया, अपितु इसके समुचित प्रचार के लिए भी वे कटिबद्ध हो गये। उन्होंने इसके अनुयायियों की 'तृतीय संगीति' का आयोजन किया जिसमें निरंतर नव महीनों तक वाद-विवाद चलता रहा और जिसके अनंतर, विभिन्न भारतीय प्रांतों के अतिरिक्त, सुदूर विदेशों तक में इसके प्रचारकों का भेजा जाना आरंभ हो गया। जिन-जिन देशों के साथ उनका संपर्क बढ़ा, वहाँ-वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के संदेश भेजे और इसके प्रचारार्थ प्रयत्न किये। तदनुसार उनके धर्मदूत जहाँ एक ओर लंका द्वीप एवं स्वर्णद्वीप (संभवतः बर्मा) जैसे देशों तक गये वहाँ वे दूसरी ओर सीरिया, मिश्र, साइरीन, मैसिडन तथा एपिरस जैसे यूनानी राज्यों तक जा पहुँचे। सम्राट् अशोक ने इन राज्यों के शासकों से अनुरोध किया कि वे इस धर्म का अपने यहाँ प्रचार करें। उन्होंने अपने साम्राज्य के सीमांत प्रदेशों में निवास करने वाली भिन्न-भिन्न जातियों में भी इसके संदेश अपने शिला-लेखों द्वारा पहुँचाये। सम्राट् अशोक के अनंतर ऐसे कार्यों में विशेष भाग लेने वाले एक अन्य पुरुष, सम्राट् कनिष्क भी हुए जिन्होंने इसे पूर्ण प्रश्रय दिया तथा इसकी 'चतुर्थ संगीति' आमंत्रित की और इसका प्रचार किया।

सम्राट् अशोक के समय की गई 'तृतीय संगीति' का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि इस धर्म के विभिन्न अनुयायियों में, उस काल तक उत्पन्न हो गये मतभेदों का निराकरण कर उनमें पूर्ण सामंजस्य

ला दिया जाय। किन्तु उस अधिवेशन को इस ओर पूरी सफलता नहीं मिल सकी। इसके अनुयायियों के दो भिन्न-भिन्न दलों का पृथक-पृथक् संगठन और प्रचार-कार्य आरंभ हो गया। इस विषय में पीछे सम्राट् कनिष्क के समय आमंत्रित की गयी 'चतुर्थ संगीति' के भी किये कुछ नहीं हो सका और दोनों दल क्रमशः महायान एवं हीनयान के नामों से प्रसिद्ध हो गये। इन दोनों की विचार-धाराओं में जहाँ अनेक असमानताएँ थीं, वहीं वे कई बातों में समानताएँ भी थीं। दोनों दल इस बात को मानते थे कि संसृति अनादि और अनंत है, सभी अनात्म हैं, सभी कुछ परिवर्तनशील है, कर्मवाद एवं जन्मांतर के नियम अनिवार्य हैं, हमारा अज्ञान सारे दुःखों का कारण है और आष्टांगिक मार्ग के अनुसार आचरण करना सर्वथा अभिनंदनीय है। किन्तु इन दोनों में प्रमुख भेद इन बातों का था कि हीनयानी जहाँ गौतम बुद्ध को एक ऐतिहासिक महापुरुष मानकर चलते थे, उनका लक्ष्य प्रधानतः व्यक्तिगत सुधार एवं अर्हत् की प्राप्ति का था, भिक्खुओं एवं श्रमणों के आचरणों में स्पष्ट भेद की कल्पना करते थे। अनात्म-तत्व के भाव को केवल तर्क पर आश्रित मानते थे और निर्वाण की दशा को जहाँ वे केवल तृष्णा, क्रोध एवं मोह की निवृत्ति तक ही सीमित मानते जान पड़ते थे, वहाँ महायान गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व को बहुत कुछ दार्शनिक वा अलौकिक रूप दे देता था। व्यक्तिगत सुधार से कहीं अधिक विश्व-कल्याण के लिए योजना तैयार करता था, भिक्खुओं एवं श्रमणों के आचरण की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ देना उतना पसंद नहीं करता था। अनात्म-तत्व को अनुभवाश्रित मानता था तथा निर्वाण को केवल एक निषेधात्मक संज्ञा न देकर उसे किी वास्तविक दशा का रूप भी प्रदान करता था। संक्षेप में कह सकते हैं कि हीनयान की अपेक्षा महायान अधिक प्रगतिशील एवं सुनिश्चित विचारों का समर्थक था। यह किसी व्यक्ति मात्र के लिए अर्हत् के आदर्श को ही सर्वोच्च स्थान न देकर,

सब किसी के लिए बोधिसत्व की उपयोगिता का समर्थन भी करता दीख पड़ता था।

इस प्रकार समय पाकर, बौद्ध धर्म अपने प्रवर्तक के उपदेशों का केवल एक साधारण निचोड़ मात्र ही नहीं रह गया। इसने क्रमशः धर्म एवं दर्शन का एक संमिलित स्पष्ट रूप ग्रहण कर लिया और इसके अंतर्गत अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ अंतर्भुक्त हो गईं। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि इसके क्रमिक विकास को सदा विचार-स्वातंत्र्य से ही अधिक बल मिलता गया और जहाँ-जहाँ इसका प्रचार हुआ वहाँ-वहाँ इसने अपने को स्थानीय प्रचलित परंपराओं तथा विभिन्न परिस्थितियों के भी अनुकूल बना डालने का प्रयत्न किया। अपने मूल स्थान भारतवर्ष में जहाँ इसे हिंदू धर्म के साथ विकसित होने के अवसर मिला, यह उसमें क्रमशः घुल-मिल कर तद्रूप बन गया। यह इसलिए संभव हुआ कि बौद्ध धर्म का मूल उत्स वस्तुतः वेदों, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों के ही क्षेत्र में प्रतिष्ठित रह चुका था। इस कारण, उन पर आश्रित हिंदू धर्म के एक बार पुनः जागृत हो जाने पर, इसके साथ उसका समन्वयात्मक आदान-प्रदान हो जाना बहुत सरल बन गया। परंतु बाहर जाकर यह कई रूपों में दीख पड़ा। यदि स्थूलतः विचार किया जाय तब भी विदेशों में इसके कम से कम चार प्रमुख संप्रदाय बतलाये जा सकते हैं जिनमें से प्रत्येक में कई उप-संप्रदाय हैं। इसका सबसे प्राचीन (और संभवतः मौलिक) रूप हमें 'हीनयान' अथवा थेरवाद में दीख पड़ता है जो इस समय लंका, बर्मा, श्याम, आदि में मिलता है। किन्तु इसके अधिक विकसित वा परिवर्तित रूप 'महायान' का पता हमें अन्य कई देशों में चलता है जिनमें चीन, कोरिया, आदि के नाम लिये जा सकते हैं। तिब्बत, भूटान, सिक्किम एवं नेपाल में इसका रूप महा-यान से भी कुछ भिन्न कहा जा सकता है। इसी प्रकार, जापान में प्रचलित, एवं 'ज़ेन' के नाम से प्रसिद्ध संप्रदाय में अनेक ऐसी

विशेषताएँ आ गयी हैं, जिनके कारण उसे इसके साथ सम्बद्ध करना कठिन हो जाता है।

विदेशों में बौद्ध धर्म के पहुँचने, वहाँ प्रचलित होने तथा वहाँ की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार इसके न्यूनाधिक परिवर्तित रूप ग्रहण करते जाने का इतिहास बहुत मनोरंजक है। इससे उसके वास्तविक रूप की समीक्षा तथा मूल्यांकन करने में हमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। केवल कतिपय विश्वजनीन एवं शाश्वत प्रश्नों को लेकर निश्चित किया गया एक दृष्टिकोण जिसे आज से लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व किसी भारतीय महापुरुष ने अपने गंभीर चिंतन के उपरांत अपनाया था, किन साधनों के सहारे अपने प्रचार-क्षेत्र की सीमा लाँघ कर क्रमशः सुदूर विदेशों तक पहुँच गया, किन रूपों में उसका कहाँ स्वागत हुआ और, कैसे-कैसे संघर्षों का सामना करता हुआ वह अंत में आज के विभिन्न भेदों के साथ प्रकट हुआ। इसकी कहानी स्वभावतः बहुत विस्तृत और विचित्र भी बन गयी है, जिसकी यहाँ केवल एक रूपरेखा मात्र ही प्रस्तुत की जाती है।

बौद्ध धर्म के विदेशों में किये गए, सर्वप्रथम, प्रचार का निश्चित पता हमें लंकाद्वीप के सम्बंध में उपलब्ध है। सम्राट् अशोक ने वहाँ पहले पहल स्वयं अपने 'पुत्र' थेरो महिंद अथवा महेंद्र को भेजा जिन्होंने वहाँ एक धर्मोपदेशक के रूप में जाकर प्रचार कार्य किया। 'दीपवंश' एवं 'महावंश' नामक दो प्रसिद्ध सिंहली ग्रन्थों से पता चलता है कि राजकुमार महेंद्र को वहाँ बहुत बड़ी सफलता मिली और वे आजीवन प्रयत्नशील बने रह गये। उन्होंने वहाँ के राजा 'देवानां प्रिय तिष्य' और उसके सभासदों को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया और इसके लिए संगठित कार्यक्रम की नीवँ डाली। कहते हैं कि 'थेरो महिंद' की अस्थियाँ एक स्तूप के नीचे गड़ी हुई, वहाँ पर आज तक वर्तमान हैं। फिर महेंद्र के अनंतर उनकी बहन संघमित्ता वा संघमित्रा भी लंका द्वीप तक पहुँच गई और वहाँ की यात्रा करते समय वह यहाँ

से बुद्ध गया के प्रसिद्ध 'बोधि वृक्ष' की एक शाखा भी लेती गईं। वह शाखा, एक महान् बट वृक्ष के रूप में, वहाँ की प्राचीन राजधानी अनुराधापुर में अभी तक दीख पड़ती है। राजा तिष्य ने, इन दोनों भाई-बहनों की स्मृति में, उस क्षेत्र के निकट एक बौद्ध विहार की स्थापना की। इसके लिए कुछ भूमि की भी पृथक् व्यवस्था कर दी, वहीं पर इन्होंने एक 'थूपाराम डेगोबा' नामक सुंदर स्तूप का निर्माण कर दिया है, जिसमें गौतम बुद्ध की हँसली की हड्डी का सुरक्षित होना बतलाया जाता है। ईसा की तीसरी शताब्दी में, फिर इस देश में, तथागत के एक दांत का भी अवशेष चिह्न लाया गया, जो वहाँ के कैंडी नगर के एक मंदिर में सुरक्षित है। लंका द्वीप में इन अवशेष चिह्नों की सुरक्षा के अतिरिक्त एक यह महान कार्य भी किया गया कि वहाँ पर, ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में उन सारे बुद्ध वचनों को जो अभी तक भिक्खुओं के जिह्वाग्र पर ही रहा करते थे लिखित रूप में ला दिया गया। बुद्ध घोष ने उन्हीं के आधार पर, ईसा की पाँचवीं शताब्दी में अपने पाली ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग' की रचना की जो तथागत के मूल उपदेशों का एक प्रामाणिक कोश कहा जाता है। ग्यारहवीं शताब्दी में वहाँ के प्रचार-कार्य में कुछ कमी अवश्य आ गई जब उस द्वीप के ऊपर भारत की ओर से चोलों का आक्रमण हुआ। परंतु इसके अनंतर वहाँ के राजा पराक्रमबाहु के शासन-काल में यह एक बार फिर सँभल गया और तब से थेरवाद की दृष्टि से यह द्वीप बौद्धधर्म का एक सुदृढ़ गढ़ बन गया। यों तो सिंहली परंपरानुसार वहाँ, सर्वप्रथम, स्वयं गौतम बुद्ध और उनके पहले के तीन बुद्ध भी आ चुके थे और फिर किसी राजा विजय ने भी कुछ प्रचार किया था।

सम्राट् अशोक ने सुवर्णभूमि अथवा बर्मा में भी अपने धर्मदूत भेजे थे, किन्तु उनके प्रारंभिक प्रचार-कार्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ के कुछ बौद्ध निवासियों की धारणा है कि उनके धर्म की जड़ जमाने में सबसे प्रमुख भाग वहाँ बुद्धघोष ने लिया था। तथ्य जो हो,

इतना तो प्रायः निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि ईसा के अनंतर लगभग एक सहस्र वर्षों तक वहाँ पर एक प्रकार की नट (भूत) पूजा ही अधिक प्रचलित थी। इसके सिवाय वहाँ के बौद्धों की विचारधारा एवं आचरणों से भी ऐसा जान पड़ता है कि उन पर विशुद्ध थेरवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप में नहीं पड़ा है। इस बात में वहाँ का बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान का एक मिश्रित रूप कहा जा सकता है। बर्मी लोग नटों की पूजा आज भी करते हैं और वे उन्हें उसी प्रकार मनाते हैं जैसे लंका वाले देवताओं के प्रति भय एवं श्रद्धा का प्रदर्शन किया करते हैं। वे हृदय से कट्टर बौद्ध हैं। इस देश के राजा अनब्रत जो ईसवी सन् के १०४४ से लेकर १०७७ तक पगन में राज्य करते थे, स्वयं बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और उन्होंने ही थेरवाद को पूर्ण प्रश्रय प्रदान किया। उन्होंने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के अतिरिक्त अपनी राजधानी में बौद्ध मंदिरों का निर्माण भी आरंभ कर दिया और उन्हें अपने राज्य भर में, पैगोडाओं के रूप में निर्मित कर उस देश में कला-प्रियता के भाव की प्रतिष्ठा कर दी। रंगून का स्वे डैगोन-पैगोडा इस बात का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। ईसा की तेरहवीं शताब्दी में पगन राज्य पर कुबले खां का आक्रमण हुआ जिससे बौद्ध धर्म के अनुयायियों को भी कुछ कष्ट पहुँचा। किन्तु इसके लगभग तीन सौ वर्ष पीछे धम्म चेति (१४६०-९१) के प्रयत्नों द्वारा, वहाँ के बौद्ध धर्म में फिर नवीन जीवन का संचार हुआ और सारा देश एक ही धर्म के सूत्र में बँध गया। लंका द्वीप के समान यहाँ भी ईसाई धर्म ने बड़ी तत्परता के साथ अपने प्रभाव को जमाने के प्रयत्न किये हैं, किन्तु थेरवाद का आसन अभी तक जमा है।

श्याम देश के निवासी थाई लोग पहले पहल चीन देश की ओर से वहाँ आये थे और कदाचित् उसके पहले से ही बौद्ध बन चुके थे। यहाँ के निवासियों में बर्मी, करेन, शान, तलैंग, आराकानी, ख़्मेर, लाओ, चाम, अन्नामी आदि अनेक प्रकार की जातियाँ पायी जाती

हैं जो बहुत काल तक परस्पर लड़ती चली आई हैं और एक ने दूसरे पर शासन भी किया है। किन्तु सभी ने सर्वप्रथम, कदाचित् महायान धर्म को ही अपनाया था और पीछे उन्होंने फिर लगभग एक ही साथ थेरवाद का मत स्वीकार कर लिया। ईसा की चौदहवीं शताब्दी में यहाँ के राजा ने लंका से किसी सिंहल भिक्खु को बुला भेजा जिसने यहाँ की राजधानी सुखोटाई में थेरवाद के संघराज का पद ग्रहण कर लिया।[1] उस समय वहाँ का राजा स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया और सम्राट अशोक की भाँति, उसने इसे राज्य धर्म का भी पद प्रदान कर दिया। तब से आज तक बौद्ध धर्म वहाँ के संघ एवं राज परिवार के संमिलित प्रयत्नों द्वारा प्रचारित किया जाता आया है। लंका अथवा सिंहल के थेरवादी भिक्खु पीले रंग का वस्त्र धारण करते हैं, जहाँ बर्मी भिक्खुओं के वस्त्र का रंग नारंगी का रहा करता है। इसी प्रकार सिंहली बौद्ध लोग जहाँ अपने मत का मूलाधार 'सुत्त पिटक' को स्वीकार करते हैं और बर्मी 'अभिधम्म पिटक' को महत्व देते हैं, वहाँ श्याम वालों के लिए बुद्ध वचनों का 'विनय पिटक' सर्वप्रमुख मार्ग-प्रदर्शक समझा जाता है, यों तो इन सभी की दृष्टि में संपूर्ण त्रिपिटक पूज्य धर्म ग्रन्थ है।

कंबोडिया अथवा पूरे इंदोचीन की भी दशा लगभग वही रही है जो श्याम की थी। यहाँ पर भी चीन के महायान का ही प्रभाव पड़ा था और कहीं-कहीं हिंदू धर्म के पुराने रूपों के भी बहुत उदाहरण दिखलायी पड़ते थे। ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक इस देश में प्रायः सर्वत्र यही स्थिति रही, तदनंतर श्याम देश का प्रभाव क्रमशः पड़ना आरंभ हो गया। उसके साथ यहाँ पर भी थेरवाद का प्रचार पूर्ण

[1] राजा का नाम 'सूर्यवंशराम' था और बौद्ध धर्म के लंका से श्याम पहुँचने का समय सन् १३६१ ईसवी बतलाया गया है।—दि हिंदुइज़्म ऐंड बुद्धिज़्म, भा० ३, पृ० १० का नोट।

रूप से होने लगा। इस देश की एक विशेषता अभी आज तक यहाँ के घरेलू युद्धों में ही लक्षित होती है, किन्तु इसके कारण यहाँ पर बौद्ध धर्म की प्रगति में कोई अंतर नहीं आ पाता। सिंहल द्वीप वा लंका से लेकर बर्मा, श्याम एवं इंदोचीन तक, इस समय, सर्वत्र थेरवाद वा हीनयान का पूरा प्रभाव है। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि कि इन सभी देशों में हमें हीनयान के उस पूर्व रूप के ही दर्शन होते हैं जो तथागत का पारिनिर्वाण होने के अनंतर सर्वप्रथम दीख पड़ा था। श्याम देशीय संघों की प्रवृत्ति क्रमशः आधुनिक पाश्चात्य विचार-धारा के संपर्क में आते जाने की हो रही है। योरपीय दर्शनादि के विशिष्ट ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद होता जा रहा है और थेरवादी ग्रन्थों का भी भाषांतर होने लगा है और इसमें राजकीय सहायता भी उपलब्ध हो रही है। इसी प्रकार सिंहल देश में भी इस ओर पूरी जागृति के लक्षण दिखलायी देने लगे हैं और यहाँ से धर्म-दूतों के बाहर भेजे जाने तक की व्यवस्था की गयी है। यहाँ की प्रसिद्ध 'महाबोधि सोसाइटी' की शाखाएँ विदेशों में प्रायः सर्वत्र प्रचलित होती जा रही है। इसके द्वारा प्रयत्न किया जा रहा है कि बौद्ध धर्म के मूलरूप का न केवल गंभीर वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय, अपितु इसे अन्य धर्मों की तुलना में भी रख कर परखा जाय। इस प्रकार के प्रयत्नों का एक यह परिणाम भी हो सकता है कि इन देशों में प्रतिष्ठित थेरवाद के ऊपर जो स्थानीय मतवादों वा प्रचलित परंपराओं का प्रभाव कभी पहले न्यूनाधिक रूप में पड़ चुका था वह क्रमशः क्षीण होता चला जाय और इसका विशुद्ध रूप निखर कर प्रकट हो जाय। कंबोज नरेशों के कट्टर बौद्ध होते हुए भी उनके दर्बारों की अनेक प्रथाएँ अभी तक हिंदू धर्म का अनुसरण करती हैं और उनके पुरोहित शिखा-सूत्र धारण करते हैं।[1]

---

[1] सर चार्ल्स इलियट : हिंदुइज़्म ऐंड बुद्धिज़्म, खंड ३, पृ० १२३

बौद्ध धर्म का हीनयान संप्रदाय जिस प्रकार, भारत से बाहर, इसके दक्षिण और पूर्व की ओर बढ़ा है, उसी प्रकार महायान इसके उत्तर-पश्चिम की ओर से निकल कर क्रमशः उत्तर एवं उत्तर-पूर्व की ओर प्रचलित होता हुआ चला गया है। उधर वह भारत से चीन, चीन से कोरिया और कोरिया से जापान तक पहुँचा है। इधर चीन से ही तिब्बत तथा वहाँ से मंगोलिया और भूटान एवं सिक्किम की ओर फैला है। प्रसिद्ध है कि बौद्ध धर्म के प्रचारक, सर्वप्रथम, भारत से चल कर चीन देश की राजधानी में, ईसवी सन् पूर्व २१७ वें वर्ष में पहुँचे थे। उस समय वहाँ पर शिनवंश का राज्य था, किन्तु उस काल के प्रामाणिक इतिहासों में इस बात का कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। एक परंपरा इस बात का भी समर्थन करती है कि ईसवी सन् पूर्व के १२१ वें वर्ष में चीन का कोई सेनापति मध्य एशिया से गौतम-बुद्ध की एक स्वर्ण प्रतिमा लाया था, किन्तु इस घटना का भी किसी ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर, प्रमाणित किया जाना संभव नहीं जान पड़ता। इससे कहीं अधिक प्रामाणिक बात यह जान पड़ती है कि ईसवी सन् पूर्व के दूसरे वर्ष में यू-ए-ची जाति के शासकों ने, चीन के हान वंशीय राजाओं के दर्बार में, सर्वप्रथम, बौद्ध धर्म के कतिपय मान्य ग्रन्थों को, भेंट के रूप में, प्रस्तुत किया था। निश्चित ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के प्रचारक वहाँ, सर्वप्रथम, ईसवी सन् ६५ में पहुँचे थे।[1]

चीन देश की एक दंत-कथा के अनुसार वहाँ के हान-वंशीय मिंगटी नामक राजा (सन् ५८-७५ ई०) ने एक दिन स्वप्न में देखा कि कोई स्वर्ण निर्मित मनुष्य उड़ता हुआ, मेरे राज-मंदिर में प्रवेश कर रहा है। इसके द्वारा वह अत्यंत प्रभावित हुआ। उसे, अपने सभासदों से पूछने पर पता चला कि वह घटना पश्चिमी दिशा की ओर से गौतम

---

[1] डा० पी० सी० बागची : इंडिया ऐंड चाइना, पृ० ७

बुद्ध के आगमन की सूचना देती है। अतएव, सन् ६५ ईसवी में उसने अपने तीन राजदूत भेजे जो भारत आये। यहाँ से काश्यप मातंग एवं धर्मरत्न नामक दो बौद्ध आचार्यों को लेकर, बौद्ध प्रतिमाओं तथा धर्म-ग्रन्थों के साथ लौटे। ये सामग्रियाँ श्वेत घोड़ों पर आयी थीं जिस कारण उन आचार्यों के रहने के लिए निर्मित राजधानी के मठ का नाम भी 'श्वेताश्व विहार' पड़ गया। ये दोनों आचार्य वहाँ पर अपने जीवन-काल तक रह गये। उन्होंने महायान संप्रदाय के कुछ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इनमें एक ग्रन्थ 'बयालिस अंगों का सूत्र' नाम का भी था जिसमें अधिकतर ऐसे नियम संगृहीत थे जो थेरवादो विचारधारा के भी अनुकूल पड़ते थे। इसकी विरक्ति-मार्गी व्यवस्था उस देश के कन्फूशियनों तथा लाओज़े के अनुयायियों को अपने मतों के विरुद्ध जँची और यह उनके पसंद न आयी। चीन देश के निवासी स्वभावतः व्यवहारवादी होते हैं। समाज में नैतिक आचरण को प्रधानता देते हैं, जहाँ भारतीय बौद्ध धर्म मूलतः उच्च सिद्धांतों का प्रचारक था। उसमें तत्व-ज्ञान तथा असांसारिक बातों को ही अधिक महत्व दिया जाता था। इसका दुःखवाद पर आश्रित भिक्खुओं का संगठन उनके स्वभाव के प्रतिकूल जान पड़ा। एक प्राचीन सभ्य देश के निवासी होने के कारण भी, उन्होंने इसका विरोध किया अतएव, बौद्ध धर्म को वहाँ उस समय अच्छी सफलता नहीं मिल सकी। उसके लगभग तीन शताब्दी पीछे ही, वह वहाँ अपने पैर जमा सका।[1]

परंतु दक्षिण चीन की ओर इस धर्म का प्रवेश बहुत कुछ स्वतंत्र रूप से भी हो चुका था। इस बात का प्रमाण मिलता है कि इसके प्रचारक उस ओर ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक, अपने कार्य में उद्योगशील बन चुके थे। भारत एवं चीन का व्यापारिक सम्बंध

---

१ क्रिसमस हम्फ्रीज़ : बुद्धिज्म, पृ० ६६

इसके पहले, अर्थात् लगभग ईसवी सन् पूर्व की द्वितीय शताब्दी के ही समय से स्थापित हो चुका था और भारतीय लोग 'चीन' शब्द से परिचित हो चुके थे। यह शब्द चीनी भाषा के त्सिन (Ts'in) का रूपांतर है जो ईसवी सन् पूर्व (२२१-२०६) पर्यंत राज्य करने वाले राजवंश का नाम था। 'चीन' शब्द का प्रयोग, प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महाभारत' में भी मिलता है जिसकी रचना ईसवी सन् पूर्व की द्वितीय अथवा प्रथम शताब्दी में हुई थी। शक राज्य का भारत में अंत हो जाने पर इस देश के पश्चिमोत्तर भाग का एक अंश पार्थियन लोगों के हाथ में पड़ गया था जिनका साम्राज्य बहुत विस्तृत था और जिनके शासनाधीन कई मध्य एशिया स्थित देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार कुछ पहले से ही होता आ रहा था। पार्थियन वंश के एक राजकुमार ने जिसका नाम शेकाओ अर्थात् लोकोत्तम बतलाया जाता है अपना राज्याधिकार अपने चचा को दे दिया और बौद्ध भिक्खुओं की दीक्षा ले ली। यह घटना ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी के लगभग मध्यकाल की है, जब चीन के राजा द्वारा बौद्ध धर्म का स्वागत किया जा चुका था। शेकाओ एक अच्छा विद्वान् भी था और वह बौद्ध धर्म के कई मूल ग्रन्थों को लेकर चीन की राजधानी में पहुँच गया। वहाँ पर वह 'श्वेताश्व विहार' में जाकर ठहरा और वहीं रहकर उसने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में कर डाला। शेकाओ के आदर्श पर चीनी अनुवादकों का एक पृथक् संप्रदाय ही चल पड़ा। इसके अनंतर मध्य एशिया के कतिपय सोगदी लोगों ने भी उसका अनुकरण किया।

सेंगहुई ऐसे सोगदी लोगों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ। उसी ने दक्षिणी चीन में, सर्वप्रथम, सुव्यवस्थित प्रचार आरंभ किया। उसके माता-पिता भारत में भी रह चुके थे और यहीं से वे टोंकिन गये थे

[1]डा० पी० सी० बागची : इंडिया ऐंड चाइना, पृ० ८

जहाँ, ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के प्रथम चरण में उसका जन्म हुआ। टोंकिन में कुछ दिनों तक रहकर सेंगहुई अंत में नैंकिंग पहुँचा, जहाँ पर एक बौद्ध विहार की स्थापना करके उसने अपना एक पंथ चला दिया। मध्य एशिया के यू-ए-ची शासकों द्वारा चीनी दर्बार में कतिपय धर्म-ग्रन्थों को समर्पित किये जाने की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। ईसा की द्वितीय तथा तृतीय शताब्दियों में भी यू-ए-ची धर्म-प्रचार अच्छी संख्या में चीन पहुँचे। ऐसे लोगों में सर्व प्रसिद्ध धर्मरक्ष है जो तृतीय शताब्दी के मध्यकाल में चीन गया और जो उन यू-ए-चियों का वंशज था जो चीन की सीमा पर ही बसे थे। उसने भारतीय शिक्षकों द्वारा ही बौद्ध धर्म की शिक्षा पायी थी और वह उनके साथ मध्य एशिया के अनेक प्रदेशों में यात्रा भी कर चुका था। पता चलता है कि वह छत्तीस विभिन्न भाषाओं का जानकार था जिनमें संस्कृत एवं चीनी भाषाएँ भी थीं। धर्मरक्ष भी अपने यहाँ से चीन की राजधानी पहुँचा और वहाँ रह कर उसने न केवल अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, अपितु जीवन भर बौद्ध धर्म का प्रचार करता रहा धर्मरक्ष चीनी धर्मग्रन्थों के इतिहास में, 'फाह-हू' नाम से भी प्रसिद्ध है, जो वस्तुतः उसके संस्कृत नाम का ही रूपांतर मात्र है।

बौद्ध धर्म के प्रचार में यू-ए-ची लोगों के सामन कुचियों का भी हाथ रहा और इन्होंने अपने प्रयत्न चौथी शताब्दी से आरंभ किये। चीन के एक सेनापति ने इसी समय कुची लोगों पर धावा किया और उसने प्रसिद्ध कुची बौद्ध विद्वान् कुमारजीव को सन् ४०१ ईसवी में बंदी बना लिया कुमारजीव के पिता कुमारायण एक भारतीय बौद्ध थे जो किसी प्रकार कुची लोगों के देश अर्थात् उत्तरी मध्य एशिया तक यात्रा करके पहुँच गए थे। वहाँ पर वे अपनी योग्यता के कारण 'राजगुरु' के पद पर समाहत हुए थे। उन्होंने अपना विवाह भी किसी राजकुमारी के ही साथ कर लिया था जिसका नाम 'जीवा' बतलाया

जाता है और जिसने अपने पुत्र कुमारजीव के जन्म-समय से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। कुमारजीव अपनी माता के साथ काश्मीर आये जहाँ उन्होंने बंधुदत्त नामक विद्वान् से बौद्ध दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। वे फिर अपनी जन्म-भूमि की ओर लौट गये। उधर पूर्वी तुर्किस्तान के खोतन, काशग़ार, यारकंद आदि के बौद्धों में एक प्रकांड पंडित के रूप में विख्यात हो गये। अपनी इस प्रसिद्धि के ही कारण उन्हें चीनी सेनापति का बंदी बनकर चीन देश में आना पड़ा, जहाँ वे सन् ४१३ ईसवी तक जीवित रहे। कुमारजीव, अपनी गंभीर विद्वत्ता के कारण, धर्म-ग्रन्थों के अनुवाद-कार्य में बहुत अधिक सफल सिद्ध हुए। उनके अनेक शिष्य भी बन गए। वे इनसे प्रायः कहा करते थे "मेरे कार्य को ही अपना आदर्श बनाना मेरे जीवन की ओर उतना ध्यान न देना। कमल का फूल कीचड़ से उत्पन्न होता है, किन्तु कमल को ही महत्व दिया जाता है कीचड़ के साथ कोई प्रेम नहीं दिखलाता।"[1]

बौद्ध धर्म के प्रचार में उस समय ठेठ भारतीय विद्वानों ने भी बहुत भाग लिया। काश्मीर प्रांत उन दिनों बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी लोगों का एक प्रमुख केंद्र था और कुषाण साम्राज्य के समय, यहाँ पर अन्य प्रांतों की अपेक्षा इस धर्म को कहीं अधिक सफलता मिली थी। ईसा की चौथी शताब्दी से यहाँ के बौद्ध विद्वानों का मध्य एशिया की ओर जाना आरंभ हुआ। संघभूति नामक एक बौद्ध पंडित वहाँ सन् ३८१ ईसवी में पहुँचे। उन्होंने वहाँ पर 'विनय पिटक' का चीनी अनुवाद किया। फिर सन् ३८४ ईसवी में ही वहाँ गौतमसंघ देव नामक एक और ऐसे विद्वान् गये जिन्होंने अभिधम्म साहित्य की ओर वहाँ के निवासियों का विशेष ध्यान दिलाया। सन् ३९१ ईसवी में ये दक्षिणी चीन के उस भाग की ओर भी पहुँचे, जहाँ सोगदी बौद्ध

---

[1] डा० पी० सी० बागची : इंडिया ऐंड चाइना, पृ० ३८

पंडित सेंगहुई ने अपना एक संप्रदाय स्थापित कर दिया था। यहाँ से वे फिर लुशान तथा क्रमशः नैंकिंग तक भी गये जहाँ के राजकीय कर्मचारियों पर उन्होंने अपना विशेष प्रभाव डाला। संघदेव के अनंतर चीन की ऐसी यात्रा करने वालों में पुण्यत्रात, धर्मयशस् आदि के भी नाम लिये जाते हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध बुद्ध यशस् हुए जिनके काश्मीरी ब्राह्मण पिता के विषय में कहा जाता है कि उन्हें बौद्ध धर्म के प्रति पहले कुछ भी आकर्षण नहीं था। एक बार उन्होंने किसी बौद्ध भिक्षु को पीट दिया जिसके परिणाम स्वरूप उनके हाथों में लकवे की बीमारी हो गई। इसका उनके ऊपर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने फिर उस भिक्षु को अपने यहाँ निमंत्रित कर उसका बड़ा आदर किया और उसे अपने तेरह वर्ष के लड़के उक्त यशस् को भी दे डाला। यही लड़का पीछे स्वयं एक बहुत बड़ा भिक्षु बन गया और बौद्ध धर्म के प्रचार में इसने कई महत्वपूर्ण कार्य किये।

बुद्ध यशस् अपने प्रचार-कार्य के सम्बंध में १० वर्षों तक काशग़ार में रहे, जहाँ वे वहाँ के राजमंदिर में रहा करते थे। यहाँ पर उनसे कुमारजीव से चीन भेंट हुई जो कुची लोगों के देश की यात्रा कर रहे थे। कुमारजीव के चीन में पहुँचने पर, ये उनसे वहाँ भी मिले। इनके चीनी जीवनी लेखकों ने इनके चरित्र की महत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उस काल के अन्य ऐसे काश्मीरी पंडितों में विमलाक्ष, बुद्धजीव, आदि भी प्रसिद्ध हैं। इनमें से बुद्धजीव फ़ाहियान के भी सहयोगी थे। इन दोनों से अधिक विख्यात गुणवर्मन् है जो काश्मीर के राजवंश में उत्पन्न हुए थे। बौद्ध धर्म का प्रचार करते समय इनसे अनुरोध किया गया कि ये भिक्खुओं के वेश का परित्याग करके राजगद्दी पर बैठें, किन्तु इन्होंने अस्वीकार कर दिया और ये घनघोर वनों में जाकर निवास करने लगे। ये वहाँ से फिर लंकाद्वीप गये जहाँ इन्होंने वहाँ के प्रचारकों का पथ-प्रदर्शन किया। वहाँ से आगे जावा द्वीप तक बढ़ गये। जावा द्वीप में उस समय तक बौद्ध धर्म

जा चुका था। गुणवर्मन् ने जाकर वहाँ के राजा को इस धर्म में सपरिवार दीक्षित कर दिया और फिर वहाँ से ये आस-पास के द्वीपों में भी गये। इनका नाम वहाँ पर इतना प्रसिद्ध हो गया कि इन्हें अपने यहाँ बुलाने के उद्देश्य से सुदूर चीन के सम्राट् ने अपना आदमी भेजा। इस प्रकार सन् ४३१ ईसवी में चीन पहुँचे, जहाँ इनका अपूर्व स्वागत हुआ और सम्राट ने इन्हें वहाँ के प्रमुख विहार जेतवन में ठहराया। इनके साथ उन दिनों एक अन्य काश्मीरी पंडित भी थे जिनका नाम धर्ममित्र था और जो ध्यान-साधनाका विशेष प्रचार करते थे।

उस समय बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भारत के कतिपय अन्य प्रांतों के निवासियों ने भी चीन की यात्रा की थी। इनमें से धर्मक्षेत्र मध्य भारत के रहने वाले थे, जहाँ से वे कुची आदि जातियों के देशों से होते हुए पश्चिमी चीन तक पहुँचे थे। यहाँ रह कर प्रचार करने के लिए वे किसी बौद्ध शासक द्वारा रोक लिए गये और जब तक उन्होंने ऐसे नियंत्रण की अवहेलना की तो उनकी हत्या भी कर डाली गई। मध्य-भारत के ही एक दूसरे निवासी गुणभद्र भी थे जो पहले वहाँ से समुद्र द्वारा चीन के कैंटन नगर चले गये, जहाँ से वे उस देश की दक्षिणी राजधानी नैंकिंग में भी पहुँचा दिये गये। पूर्वी भारत से इसी प्रकार ज्ञानभद्र, यशोगुप्त आदि एवं पश्चिमी भारत से उपशून्य तथा परमार्थ जैसे विद्वान् बौद्ध यात्री भी चीन गये थे। परमार्थ का एक अन्य नाम गुणरत्न भी था और वे पाटलिपुत्र में जाकर बस गए थे, जहाँ से राजाज्ञा द्वारा वे भी विदेश भेजे गए थे। वे सन् ५४६ ईसवी में चीन पहुँचे थे और वहाँ रह कर उन्होंने लगभग सत्तर ऐसे ग्रन्थों के अनुवाद किये थे जो विभिन्न विषयों के थे। पश्चिमोत्तर भारत से चीन जाने वालों में भी ऐसे कई प्रचारकों के नाम लिये जाते हैं जिनमें सर्व प्रमुख बुद्ध भद्र थे, जिन्हें काश्मीर की बौद्ध जनता ने अपने यहाँ के सर्वश्रेष्ठ समझ कर चीन भेजा था। ये चीनी यात्री चेयेन के साथ

बर्मा से होते हुए चीन तक लगभग तीन वर्षों में पहुँचे और वहाँ कुमारजीव से मिले। ये बड़े ही स्वतंत्र प्रकृति के थे और किसी राजे-महाराजे के सहयोग की कभी चिंता नहीं करते थे। इनकी विद्वत्ता की धाक स्वयं कुमारजीव तक पर भी कम न थी। बुद्ध भद्र अपने को महात्मा गौतम बुद्ध के चाचा अमृतोदन का वंशज मानते थे और वे नगरहार (जलालाबाद) में उत्पन्न हुए थे। कहते हैं कि कोसल के राजा विरुधक द्वारा कपिलवस्तु के आक्रांत हो जाने पर वहाँ के कुछ शाक्यवंशी भारत के पश्चिमोत्तर प्रांतों में चले गए थे। बुद्ध भद्र की ही भाँति इस प्रकार के एक धर्म प्रचारक विमोक्षसेन भी थे जिनकी जन्मभूमि उड्डीयान (स्वात की तराई) के प्रदेश में थी। ये अभिधम्म के विशेषज्ञ थे और इन्होंने सन् ५४१ ईसवी के आस-पास चीन के उत्तरी प्रदेशों में रह कर काम किया था।

जिनगुप्त एवं धर्मगुप्त भी ऐसे ही प्रचारकों में से थे। इनमें से प्रथम का जन्म पेशावर में और दूसरे का काठियावाड़ के लाटदेश में हुआ था। जिनगुप्त चीन में उस समय पहुँचे थे, जब वहाँ की स्थिति डाँवाडोल हो गई थी, इस कारण वे यहाँ लौट कर फिर दूसरी बार भी गये। धर्मगुप्त की विशेषता यह थी की वे अपनी चीन-यात्रा में बड़ी विकट परिस्थितियों का सामना करते हुए आगे बढ़े थे। ये एक अनुभवी निरीक्षक भी थे। इन्होंने जिस देश वा प्रमुख स्थान का अनुभव प्राप्त किया उसके विषय में कुछ न कुछ बातें ये लिपिबद्ध भी करते गये थे। इन्होंने अपनी यात्रा के विवरणों में मध्य एशिया सम्बंधी उन बातों तक की चर्चा की है, जिन्हें ह्वेनसांग भी नहीं जान पाया था। इन दोनों यात्रियों के पश्चात् फिर कुछ धर्म प्रचारक नालंद विश्वविद्यालय से भी गये जिनमें प्रभाकर मित्र का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है। प्रभाकर मित्र को अपनी यात्रा में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं और उनका अंत भी कदाचित् उत्साह-भंग होने पर ही हुआ। एक अन्य धर्मप्रचारक बोधिरुचि नाम के भी थे जो

दक्षिणी भारत की ओर से चीन गये थे। उन्होंने ५३ ग्रन्थों को अनुवादित किया था और बड़ी वृद्धावस्था तक पहुँच कर, ५५ दिनों का उपवास करने के उपरांत ये शांति पूर्वक मरे थे। शुभाकर सिंह, वज्रबोधि, अमोघवज्र आदि कतिपय अन्य ऐसे धर्म प्रचारक भी थे जो यहाँ से समय-समय पर चीन आदि देशों की यात्राएँ करते रहे और जिन्होंने वहाँ पहुँचकर बौद्ध धर्म को सर्वसाधारण तक में प्रचलित करने का सफल प्रयत्न किया। देश में कुछ दिनों तक उपद्रव उठ जाने के कारण ऐसे यात्रियों के कार्य में बाधा पहुँचने लगी और जहाँ तक पता चलता है, सन् १०३६ ईसवी के अनंतर इस प्रकार के प्रचार कार्य को स्थगित कर देना पड़ा।

प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग के यात्रा-विवरण से चलता है कि सातवीं शताब्दी तक बहुत से यात्री चीन से भी भारत आ चुके थे। केवल तीसरी शताब्दी के मध्यकाल में ही, युन्नन एवं बर्मा के मार्ग से बीस तीर्थ-यात्री यहाँ आये थे। चौथी शताब्दी के अनंतर चीन में इस प्रकार की यात्राओं को विशेष महत्व दिया जाने लगा। भारतीय बौद्ध धर्म की संस्कृति का अध्ययन चीनियों के लिए एक प्रमुख कर्तव्य सा बन गया। इस ओर विशेष प्रयत्नशील होने वालों में सर्वप्रथम नाम ताओंगन का लिया जाता है, जिसने इस कार्य को अपने जीवन का परम लक्ष्य बना लिया था। उसकी मृत्यु के अनंतर चीन में एक नवीन जागृति-सी दीख पड़ने लगी और चौथी शताब्दी के अंतिम वर्षों तक इस ओर अनेक चीनियों ने अपना ध्यान देना आरंभ कर दिया। इनमें सर्व प्रमुख चीनी तीर्थ यात्री फ़ाहियान था जिसने अपनी भारत-यात्रा सन् ३९९ ईसवी में आरंभ की। फ़ाहियान यहाँ अपने चार भिक्खु मित्रों के साथ खोतन के मार्ग से चला था। वह पूर्व की ओर बंगाल प्रांत के समुद्र-तट तक यात्रा करता हुआ पहुँचा। वहाँ से समुद्र-मार्ग से लंका द्वीप गया, वहाँ से भी फिर जावा चला गया। जावा से वह अंत में, सन् ४१४ ईसवी के किसी समय चीन लौटा।

उसने अपनी यात्रा की कठिनाइयों का तथा भारतीय धर्म एवं संस्कृति का एक सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। फ़ाहियान को संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था और उसने बौद्ध धर्म के 'विनय-परक सिद्धांतों' का अत्यंत गंभीर अध्ययन किया था।

फ़ाहियान के अनंतर और भी अनेक चीनी तीर्थ-यात्री आये, किन्तु उनमें सबसे अधिक समय तक यहाँ ह्वेनसंग ही ठहरा। ह्वेनसंग सन् ६२६ ईसवी में भारत की ओर प्रस्थित हुआ था। उसने भी उत्तर पश्चिम के मार्ग से ही यहाँ प्रवेश किया था। मार्ग में, आते समय, उसे ऐसे तुर्की शासकों के प्रदेशों से भी होकर यात्रा करनी पड़ी जो इसके पहले प्रभाकर मित्र जैसे भारतीय बौद्ध-यात्रियों द्वारा प्रभावित हो चुके थे। भारत में उसे संयोगवश दो शक्तिशाली नरेंद्रों का सहयोग उपलब्ध हो गया जिनमें से एक सम्राट् हर्ष थे और दूसरे असम के भास्कर वर्मन थे। वह पाँच वर्षों तक नालंद विश्वविद्यालय में भी रहा जहाँ उसने शीलभद्र से विज्ञानवाद जैसे कठिन विषय का अध्ययन किया। वह अपनी सोलह वर्षों की यात्रा के अनंतर सन् ६४५ ईसवी में चीन लौटा। अपने देश में पहुँचने पर भी वह यहाँ से पत्र व्यवहार करता रहा। उसने अपनी यात्रा का विवरण 'सि-यू-कि' के नाम से प्रस्तुत किया और अपने अंतिम दिनों तक व्यस्त रहकर सन् ६६४ ईसवी में मर गया। उसके चीन लौट जाने पर वहाँ के सम्राट ने सम्राट् हर्ष के दर्बार में अपना एक राजदूत भी भेजा जिसका नाम लि-पि-पाओ था। उसने इसी प्रकार अपना राजदूत मगध के दर्बार में भी भेजा और यहाँ पर अन्य कई यात्रियों का भी आगमन हुआ। ह्वेनसंग का यात्रा-विवरण तत्कालीन भारत के इतिहास के लिए अत्यंत अमूल्य सामग्री प्रस्तुत करता है और उसे तदनुसार महत्व भी दिया जाता है।

ह्वेनसंग जैसे महान चीनी यात्रियों के साथ ईत्सिंग का भी नाम लिया जाता है जिसका उल्लेख इसके पहले हो चुका है। ईत्सिंग के

लिए प्रसिद्ध है कि चीन के बौद्ध विद्वानों में वह केवल ह्वेनसंग से ही कुछ कम योग्य रहा होगा। ईत्सिंग की भारत-यात्रा सन् ६७१ ईसवी में आरंभ हुई थी, किन्तु यहाँ पर सुमात्रा द्वीप से होता हुआ पहुँचा था। वह १० वर्षों तक नालंद में अध्ययन करता रहा और जब सन् ६९५ ईसवी में वह चीन लौटा तो उसके पास प्रायः चार सौ संस्कृत ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित रहीं। उसकी प्रमुख रचनाओं में मूल सर्वास्तिवाद-सम्बंधी एक वृहद् ग्रन्थ का अनुवाद एवं संस्कृत-चीनी शब्दकोश विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ईत्सिंग के अनंतर जो चीनी यात्री यहाँ आये उनके नाम बहुत प्रसिद्ध नहीं हैं। यहाँ पर केवल वु-कंक की चर्चा की जा सकती है जो अपने देश से, सन् ७५१ ईसवी में, उस समय चला था जब कि वह स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं था। उसने मार्ग में इस धर्म को स्वीकार किया और फिर बहुत दिनों तक इधर के नगरों में भ्रमण करता हुआ अपने देश को लौट सका। इस समय तक चीन में बौद्ध धर्म का बहुत कुछ प्रचार हो चुका था। दोनों देशों के बीच आने-जाने का एक ऐसा दृढ़ सम्बंध स्थापित हो चुका था जिसका किसी भी प्रकार टूटना असंभव था। चीन देश ने बौद्ध धर्म को क्रमशः अपने निजी धर्म के रूप में अपना लिया और इसका विकास वहाँ प्राय: स्वतंत्र रूप में होने लगा। इस परिणाम तक उसके पहुँचने में दोनों देशों के उपर्युक्त यात्रियों ने उसके साथ कितना हाथ बँटाया होगा इसका निश्चित अनुमान किया जा सकता है। कहते हैं कि ईसा की छठीं शताब्दी तक ही चीन के उत्तर पश्चिम वाले प्रायः सभी प्रांतों ने बौद्ध धर्म को किसी न किसी रूप में स्वीकार करा लिया था।

फिर भी उस समय तक यह धर्म अधिकतर उच्च वर्ग के लोगों के ही अध्ययन एवं अनुसरण का विषय समझा जाता रहा। उक्त निजी धर्म के रूप में यह उस समय से परिणत होने लगा, जब सन् ५२० ईसवी में चीन पहुँचने वाले बोधिधर्म नामक कंजीवरम् (मद्रास) के

निवासी एक भारतीय ने वहाँ अपना प्रचार-कार्य आरंभ किया। फलतः उससे एक नये संप्रदाय की स्थापना हो गयी। चीनी बौद्ध धर्म को फिर सबसे अधिक प्रोत्साहन तांग वंशीय राजाओं के शासन-काल (सन् ६२०-९०७) में भी मिला। इस समय से यह धर्म वहाँ पर पूर्ण रूप से जम गया। इस पर यदि कभी कोई आघात पहुँचा तो वह उसी समय जब वहाँ के शासकों का अपना धर्म कन्फ्यूशियन अथवा किसी अन्य प्रकार का हो जाता रहा। वे इसकी उन्नति की ओर से उदासीन हो जाते रहे। मिंगवंशीय शासकों के युग (सन् १३६८-१६४४ ईसवी) में बोधिधर्म द्वारा प्रवर्तित उक्त 'चान' संप्रदाय अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। इसके अनंतर मंचुओं के शासन-काल में इसे समुचित प्रोत्साहन नहीं मिल सका और कन्फ्यूशियन धर्म को अधिक महत्व दिया जाने लगा। फिर भी, जैसा यहाँ के बौद्ध धर्म के अंतर्गत प्रतिष्ठित होने वाले विविध संप्रदायों तथा उप-संप्रदायों के इतिहास से पता चलेगा इसके केवल वाह्य रूपों में ही कुछ परिवर्तन होकर रह गया। इसकी मूल प्रवृत्तियों में कोई ऐसा विपर्यय नहीं हुआ जिससे यह वहाँ से समूल नष्ट हो जाय। कुछ संप्रदाय भारतीय बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के आधार पर स्थापित हुए। अन्य ऐसे थे जिनका भी कुछ न कुछ सम्बंध भारतीय विचारधारा से ही था।

चीन देश के इन संप्रदायों में से केवल दो ही ऐसे हैं जिनमें थेरवाद अर्थात् हीनयान के सिद्धांतों का, सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया जाता है। शेष का सम्बंध महायान के साथ अधिक स्पष्ट है और कुछ ऐसे भी हैं जो पूर्णरूप से स्वतंत्र समझ पड़ते हैं। हीनयान से सम्बंधित इन दोनों संप्रदायों में से एक का नाम'लुत्सुंग' है और दूसरे का 'चेंगशिहत्सुंग' है। 'लुत्सुंग' का प्रमुख आधार 'विनय पिटक' है। ग्रन्थों अथवा वादों पर आश्रित संप्रदायों में से बहुत से महायन संप्रदाय से सम्बद्ध हैं। 'हुआएनत्सुंग' एक ऐसा संप्रदाय है जिसका आधार

'अवतंसक सूत्र' है। 'तिएन-ताइत्सुंग' एक दूसरा है जो 'सद्धर्मपुंडरीक सूत्र' पर आश्रित है। इसी प्रकार 'सानलुन' का स्पष्ट सम्बंध नागार्जुन के 'माध्यमिक वाद' से है, जहाँ 'धर्मलक्षण' योगाचार के मत का अनुसरण करता है। चीन का एक अन्य संप्रादय 'चेन-येन' भी है जिसे हम भारतीय मंत्रयान पर आश्रित कह सकते हैं, किन्तु जिस पर कुछ अंशों में तिब्बतीय तंत्र-साधना का भी प्रभाव पड़ चुका है। यह संप्रदाय चीन देश में, ईसा की आठवीं शताब्दी में पहुँचा था और यह क्रमशः चारों ओर फैल गया। इन संप्रदायों ने भारयीय विचारधारा का मनन अधिकतर पूर्वागत परंपरानुसार ही किया और उसी के सहारे इन्होंने आगे की ओर भी प्रगति की। इनमें कोई ऐसी बिशेषता लक्षित नहीं होती जिनके कारण इन्हें किसी प्रकार स्वतंत्र भी समझा जाय।

चीन देश में महायान संप्रदाय द्वारा प्रभावित, किन्तु उससे कुछ दूर तक भिन्न एवं स्वतंत्र रूप में प्रतिष्ठित, संप्रदाय 'लुशन' के नाम से जुड़ा हुआ है जो, वास्तव में, एक पहाड़ी भूमि है, जहाँ बौद्ध भिक्खु प्रायः साधना किया करते थे। यहाँ पर 'हुई युअन' द्वारा स्थापित एक मठ वर्तमान है जिसके प्रारंभिक रूप का निर्माण ईसवी सन् के ३८१ वें वर्ष में हुआ था हुईयुआन ताओगन का शिष्य था जिसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। उससे दीक्षित होने के लिए चीनी एवं भारतीय साधक भी एकत्र होने लगे। हुई युआन के १२३ शिष्य थे जिनमें से क़ेवल १७ को चुनकर उनके साथ उसने अपना 'श्वेत कमल का संप्रदाय' चलाया। इसे चीनी भाषा में 'पोलिएनशु' कहा जाता है। उसके १७ शिष्यों में दो भारतीय विद्वान थे जिनमें से एक काश्मीर निवासी बुद्धयशस् थे और दूसरे शाक्यवंशीय बुद्ध भद्र थे जिनकी चर्चा इसके पहले भी की गयी है। हुईयुआन के इस संप्रादय ने चीन देश में पहले पहल अमिताभ की उपासना बतलायी। वह संस्कृत भाषा का एक बहुत बड़ा पंडित था। कुमारजीव के साथ उसका

पत्र-व्यवहार बहुत दिनों तक चलता रहा था, संस्कृत ग्रन्थों की खोज में उसने अपने अनेक शिष्य भेजे थे। हुई युआन द्वारा प्रचलित की गयी बोधिसत्व अमिताभ की उपासना इतनी जनप्रिय हुई की इसका प्रभाव चीन के अन्य कई संप्रदायों पर भी बिना पड़े नहीं रह सका और वे क्रमशः एक प्रसिद्ध देवता के रूप में पूजे जाने लगे। यह संप्रदाय भारतीय महायान से कई बातों में स्वतंत्र था। हुई युआन के अनुयायियों में से बहुत ऐसे थे जिन्होंने उसके संप्रदाय में कुछ सुधार भी किये। तदनुसार उसके आधार पर, अंत में, 'चिंगतु मत' अर्थात् 'पवित्रधाम वाले संप्रदाय' का प्रचार भी होने लगा जिसके लिए धर्म-ग्रन्थों का महत्व प्रायः कुछ भी नहीं रह गया। यह संप्रदाय शुद्ध आस्तिक भाव का समर्थक था जिस कारण इसने चीनी जनता के सर्वसाधारण अंगों को भी आकृष्ट कर लिया।

चीन देश का एक अन्य ऐसा ही संप्रदाय 'चान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'चान' शब्द संस्कृत शब्द 'ध्यान' का रूपांतर है और इसका मुख्य अभिप्राय ध्यान पूर्वक किसी वस्तु की तह तक पहुँच जाने से है। यह संप्रदाय अपने प्रारंभिक रूप में, कंजीवरम् (मद्रास) के निवासी बोधिधर्म द्वारा स्थापित किया गया था जिसके नाम का उल्लेख इसके पहले भी किया जा चुका है। 'चान' संप्रदाय का दार्शनिक आधार शून्यता की भावना में निहित है। इसकी प्रमुख साधना एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत करती है। बोधिधर्म के लिए प्रसिद्ध है कि वे गौतम बुद्ध से २८ वीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। उनकी प्रतिष्ठा देव रूप में की जाती है। चीनी बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थों में उनकी अनेक सिद्धियों के विवरण पाये जाते हैं और उनके चमत्कारों में श्रद्धालुओं को पूर्ण विश्वास भी है। इस संप्रदाय के ध्यान योग में विश्व के सभी बाह्य पदार्थों की भावना का परित्याग कर एकमात्र स्वयं अपने शुद्ध मनोव्यापार पर ही ध्यान को केंद्रित करना पड़ता है। इसी के अंतिम परिणाम के ऊपर अपने लक्ष्य की सिद्धि का

निर्भर रहना भी बतलाया जाता है । फलतः इसे हम केवल 'शून्य' का ध्यान भी कह सकते हैं जो वास्तव में, बौद्ध के निर्वाण विषयक धारणा का भी परिचायक है। नागार्जुन के शून्यवाद एवं असंग तथा बसुबंधु के योगाचार सम्बंधी दर्शनों में इस पर अपने अपने ढंग से विभिन्न विचार प्रकट किये गये हैं।

बोधिधर्म के शिष्यों में दो बहुत प्रसिद्ध हुए जिनमें से एक का नाम 'हुई सी' था और दूसरे का 'चिकाइ' था। इनमें से पहले ने जहाँ अपने गुरु के मूल मत का प्रचार किया, वहाँ दूसरे ने उसके आधार पर 'तियेनताइ' नामक एक नवीन संप्रदाय की स्थापना कर दी। चिकाई का जन्म ५३१ ईसवी में हुआ था। उसने सर्वप्रथम, बोधि धर्म द्वारा बतलाये गये ध्यान योग का ही अभ्यास किया था। किन्तु जब वह नैंकिंग से बाहर तियेनताइ की उपत्यका में जाकर बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन कर चुका तो उसे बहुत सी बातें सूझ पड़ीं। उसने उनमें उपलब्ध अनेक असंगतियों में समन्वय लाने का भी प्रयत्न किया। उसका कहना था कि "दार्शनिक सिद्धांतों में सर्वत्र मतभेद दीख पड़ते हैं, किन्तु फिर भी सबका अंतिम उद्देश्य परम सत्य को प्राप्त करना ही रहा करता है। साधना चाहे जिस प्रकार की हो सत्य की अभीष्ट उपलब्धि का पूरा हो जाना ही वास्तविक महत्व रखता है और विभिन्न मार्गों के मतभेदों में समन्वय भी लाया जा सकता है।"[1] तदनुसार उसने तथागत के मूल उपदेशों का अध्ययन, उनके क्रमिक विकास की दृष्टि से किया। वह इस परिणाम पर पहुँचा कि हीनयान एवं महायान के मूलभूत सिद्धांतों में कोई वास्तविक वैषम्य नहीं है, प्रत्युत महायान में बौद्ध धर्म की अंतिम परिणति का रूप लक्षित होता है। उसने लुशन की भी यात्रा की और वहाँ पर युआन द्वारा

---

1. डा० पी० सी० बागची : इंडिया एंड चाइना, १११

प्रवर्तित संप्रदाय का भी अध्ययन किया। चिकाइ के मंतव्यों का में चीन इतना बड़ा प्रभाव पड़ा कि हीनयान के प्रति उस काल तक प्रदर्शित किये जाने वाले वैमनस्य, का भाव क्रमशः लोप हो गया। गौतम बुद्ध की शिक्षा का काल-क्रमानुसार, सिद्धांतानुसार तथा व्यावहारिक दृष्टि से भी सांगोपांग अध्ययन करना आवश्यक समझा जाने लगा।

ईसा की सातवीं के प्रारंभिक दिनों से ही चीन में प्रचलित बौद्ध धर्म के इतिहास में नवीनता दीख पड़ने लगी थी। तांगवंशी सम्राटों के प्रयत्नों द्वारा सारे देश के एक सूत्र में बद्ध हो जाने के कारण उसके स्वर्ण युग का अवसर उपस्थित हुआ। किन्तु इसी समय वहाँ के बौद्ध धर्म की प्रगति में बहुत बड़ी बाधाओं की भी आशंका होने लगी और इसके कतिपय विरोधियों ने अपना प्रचार आरंभ कर दिया। फु-ची (सन् ५५५-६३६) जो इस आंदोलन का नेतृत्व कर रहा था वह एक प्रभावशाली व्यक्ति था और उसने स्वयं सम्राट को भी उभाड़ना चाहा, किन्तु उसे अपने प्रयत्नों में पूरी सफलता नहीं मिल सकी। बौद्धों का दमन-चक्र केवल कुछ काल तक ही चलकर बंद हो गया। उस काल के शासकों ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया और अपने पड़ोसी बौद्ध राज्यों की नीति एवं ह्वेनसंग जैसे बौद्ध यात्रियों के उद्योगों के महत्व को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने दमन-चक्र को अधिक समय तक चलाना उचित नहीं समझा। ह्वेनसंग स्वयं योगाचार के सिद्धांतों का समर्थक था और एक कट्टर महायानी था, किन्तु उसने तियेनताइ संप्रदाय के प्रति भी सद्भाव दर्शाया। उसके अपने निजी मत का नाम 'धर्म लक्षण' था जिसके अनुसार 'विज्ञान' ही एक मात्र सत्य है और अन्य सभी कुछ भ्रमात्मक है। किन्तु उसके द्वारा एक अन्य नवीन मत की भी स्थापना हुई जिसे 'कि-उ-शे' अर्थात् 'कोश' नाम दिया जाता है। यह शब्द संस्कृत शब्द 'अभिधम्म-कोश' का संक्षिप्त रूप है जो हीनयान के सर्वास्तिवाद संप्रदाय के सिद्धांतों के परिचायक प्रसिद्ध ग्रन्थ का भी नाम है। ह्वेनसंग के एक शिष्य ताओ

सिउआन ने भी इसी प्रकार, एक अन्य नवीन मत की स्थापना की जो 'लिउ' अथवा विनय संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस संप्रदाय का प्रमुख उद्देश्य नियमित आचरणों का प्रचार करना था।

चीन के बौद्ध धर्म पर भारतीय तंत्रयानों अर्थात् वज्रयान, कालचक्रयान एवं सहजयानादि का प्रभाव भी बिना पड़े नहीं रह सका। प्रसिद्ध है कि ऐसे मतों का वहाँ प्रचार करने वाले वज्रबोधि एवं अमोघवज्र थे, जो भारत से ही गये थे। इन्होंने वहाँ पर जिस संप्रदाय की स्थापना की उसके अनुसार काय, वाक् एवं मन इन तीनों के रहस्यों के महत्व का ज्ञान हो जाना सभी के लिए आवश्यक है। यदि इस प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि से पूर्ण मानसिक विकास हो जाय तो कोई भी बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। चीन में इस मत ने वहाँ के कन्फ्यूशियन धर्म को भी बहुत प्रभावित किया और उसमें, इसके कारण, कतिपय नवीन विचारों का समावेश हो गया। किन्तु इसका, वहाँ पर एक नितांत विपरीत परिणाम भी दीख पड़ने लगा। इसके कारण, बौद्ध धर्म की अवनति भी आरंभ हो गयी। बौद्ध धर्म का स्वरूप जो अभी तक सामुदायिक संगठनों के आधार पर प्रतिष्ठित था, क्रमशः व्यक्तिगत महत्व का पोषक बन गया और तांग-वंशी सम्राटों के अंतिम शासन-काल से लेकर सोंग-वंशी शासकों के प्रारंभिक दिनों तक ही इसका पूरा परिणाम स्पष्ट हो चला। फिर भी इस धर्म को वहाँ वैसे दिन देखने को नहीं मिले, जैसे भारत में मिल चुके थे। यह वहाँ पर आज भी सजीव बन कर ही वर्तमान है।

बौद्ध धर्म चीन से कोरिया की ओर, सर्वप्रथम, उसकी लिपि के ही साथ, सन् ३७२ ईसवी के लगभग पहुँचा था। यह वहाँ पर कई शताब्दियों तक प्रचलित रहा, किन्तु कन्फ्यूशियन धर्म का अधिक प्रभाव पड़ जाने के कारण, इसमें वहाँ पर कोई विशेष उन्नति नहीं हो सकी। इसे 'सिला' के राज्य-काल में अधिक शक्ति-ग्रहण करने का अवसर मिला जब कि वहाँ के शासक ने सन् ५२८ ईसवी में स्वयं

इसे अपना लिया। इस समय कोरिया वा भारत, तिब्बत एवं एशिया के अन्य भागों के साथ व्यापारिक सम्बंध भी अच्छी दशा में चल रहा था। वांग-वंश के राजाओं के शासन-काल में वहाँ कुछ विहारों का भी निर्माण हुआ, किन्तु यह क्रम अधिक दिनों तक स्थायी न रह सका। सन् १२५० ई० के अनंतर इसे विवश होकर ह्रासोन्मुख भी बन जाना पड़ा और इसके विरुद्ध दमन-चक्र तक चलने लगा। किन्तु इसका एक परिणाम यह हुआ कि अनुयायियों की संख्या-वृद्धि के रुक जाने पर भी, इसके सच्चे साधकों के उत्साह में कभी कमी नहीं आ सकी। कोरिया में बौद्धों के 'विनय' अथवा आचरणवाद को सर्वाधिक महत्व दिया गया जो आज तक भी वहाँ की विशेषता के रूप में प्रतिष्ठित है। फिर भी बौद्ध धर्म के इतिहास में कोरिया को एक महत्व इस कारण भी दिया जाता है कि उस धर्म का प्रचार यहीं से जापान में भी हुआ था। प्रथम महायुद्ध के अनंतर, इस देश पर अधिकार कर लेने पर जापानियों ने इस धर्म का वहाँ एक बार पुनरुत्थान भी कर दिया है।

बौद्ध धर्म ने कोरिया से जापान में सन् ५५२ ई० में प्रवेश किया और प्रारंभिक दिनों में इसे कुछ विरोधों का भी सामना करना पड़ा। किन्तु इसके प्रचारकों को पीछे प्रसिद्ध शोटोकू तैशी (सन् ५६३-६२२) जैसे महान् पुरुष की ओर से बल मिल गया और ये फूलने-फलने लगा। इन्होंने अपने यहाँ नारा नामक नगर को सुव्यवस्थित रूप दिया और सन् ६०७ ई० में होर्युंजी नामक एक बौद्ध मंदिर भी तैयार कराया। इसके सिवाय इन्होंने 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'विमल कीर्ति सूत्र' एवं 'श्रीमाल सूत्र' पर भाष्यों का भी निर्माण किया। शोटोकू तैशी ने इस प्रकार, जापान में बौद्ध धर्म के जमने में अच्छी सहायता की और उनके कारण वहाँ के राज-कर्मचारियों तथा प्रजा-वर्ग में भी उत्साह बढ़ा। जापानी बौद्ध धर्म की प्रायः सभी शाखाएँ चीन अथवा कोरिया की ओर से आयी हैं; केवल निचिरेन एवं शिन इसके अपवाद है। इन सभी पर समयानुसार कभी शिंतो और कभी कन्फ्यू-

शियन धर्मों का प्रभाव पड़ता रहा है। चीन में बौद्ध धर्म के लिए राजकीय सहायता अपेक्षित नहीं समझी गयी थी, किन्तु जापान में इसे स्पष्टरूप में ऐसा प्रश्रय मिलता गया। जिस प्रकार लंका द्वीप, श्याम एवं बर्मा को हम थेरवाद मत का बौद्ध देश कहते हैं, उसी प्रकार जापान भी महायानी बौद्ध धर्म का देश कहला सकता है। चीन देश में यह धर्म बड़े व्यापक रूप में प्रसरित हुआ, किन्तु यह क्रमशः वहाँ की प्राचीन धार्मिक संस्कृति के प्रभाव में विलीन भी होता जा रहा है। जापान ही उधर एक ऐसा देश है, जहाँ महायान के प्रत्येक पार्श्व के अवशिष्ट अंश आज तक विद्यमान कहे जा सकते हैं।

जापान में प्रवेश करते समय बौद्ध धर्म का कोई निश्चित रूप नहीं था और जिस समय से चीनी बौद्ध पण्डितों का जापान जाना तथा इसी प्रकार, जापानियों का चीन जाना आरंभ हुआ तब से इस धर्म के दो भिन्न-भिन्न रूप भी दीख पड़ने लगे। किन्तु शोटोकू जैसे महापुरुषों की छत्रछाया में रहते आने के कारण, उन दिनों वर्गों में किसी प्रकार के संघर्ष का अवसर नहीं मिला। जान पड़ता है कि चीन की ओर से यहाँ पर पाँच विभिन्न संप्रदायों का प्रवेश हुआ जो नारा नगर की राजधानी में ही प्रतिष्ठित हुए। इनमें से कुश, जोजित्सु एवं विनय नामक संप्रदाय ऐसे थे जिनका मूल सम्बंध थेरवाद के साथ था। चीन में जो बौद्ध संप्रदाय कि-उ-शे अर्थात् 'कोश' के नाम से प्रसिद्ध था वही जापान में आकर 'कुश' नाम से अभिहित किया जाने लगा। यह 'अभिधम्मकोश' पर आश्रित था। जोजित्सु का भी सम्बंध, इसी प्रकार, हीनयानियों के सौत्रांतिक संप्रदाय के साथ रहा और इसे 'सत्यसिद्धि' का नाम भी दियागया। इस संप्रदाय के मूलप्रवर्तक हरिवर्मा नाम के एक भारतीय पुरुष थे जो मध्य भारत के निवासी थे। उन्होंने 'सत्यसिद्धि शास्त्र' की रचना की थी। इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत रूप उपलब्ध नहीं है। इसके केवल चीनी एवं तिब्बती अनुवाद ही मिलते हैं। हरि वर्मा ने सर्वास्तिवादियों के मत का खंडन

किया है और इस प्रकार, वे उक्त कुश संप्रदाय के भी विरोधी हैं। जापान का विनय अथवा रित्सु नामक संप्रदाय चीन के लुत्सुंग संप्रदाय का ही जापानी संस्करण है और इसमें बौद्धों के आचरणवाद को महत्व दिया गया है।

चीन से जापान में आये हुए महायानी संप्रदायों में से भी कभी-कभी केवल तीन के ही नाम लिये जाते हैं। इनमें से एक 'होसो' नाम का है, जो चीन में 'योगाचार' अथवा 'धर्म लक्षण' के भी नाम से प्रसिद्ध था और जिसका केंद्र होर्युजी के बौद्ध मंदिर में प्रतिष्ठित है। एक दूसरे ऐसे संप्रदाय का नाम 'सानरोन' है जिसका मूल आधार माध्यमिक सूत्र है, किन्तु जिसके मूल चीनी रूप का स्पष्ट पता नहीं चलता। नारा नगर के अंतिम बौद्ध संप्रदाय का जापानी नाम 'केगोन' है, जो चीन के 'अवतंसक सूत्र' पर आश्रित 'हुआयेनत्सुंग' का प्रतिनिधित्व करता है। यह संप्रदाय जापान में वस्तुतः होसो के आधार पर ही विकसित हुआ था और इसका प्रधान केंद्र 'तोदाइ जी' नामक बौद्ध मंदिर है। इस मंदिर के लिए कहा गया है कि इतना बड़ा एक ही काष्ठ का बना हुआ भवन अन्यत्र कहीं भी नहीं है। केगोन संप्रदाय के अनुसार यह सारा विश्व 'सियांगची' एवं 'सियांगजु' के सम्बंध सूत्रों के आधार पर हमारे पूर्ण अनुभव में आ सकता है। सभी पदार्थ दिशा एवं काल के भ्रमात्मक इंद्रजालों के प्रभाव में, हमें पृथक् जान पड़ते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि उनमें से सभी एक दूसरे में अनुस्यूत और एक दूसरे पर अन्योन्याश्रय भी है। इंद्र के स्वर्गीय महल में जो अमूल्य रत्नों का बना 'इंद्रजाल' टँगा है उसका प्रत्येक रत्न दूसरे में एक ही प्रकार प्रतिबिंबित होता रहता है। अतएव किसी भी एक रत्न को उस जाल से पृथक् करने पर हमें उसमें एक ही साथ सारा जाल और प्रत्येक रत्न भी प्रतिबिंबित मिलता है। प्रत्येक क्षण में अनंतकाल विद्यमान है और तदनुसार हमारे प्रत्येक जीवन में नित्यता भरी है। दिक् तत्व की दृष्टि से देखने पर भी पता चलता है कि

प्रत्येक क्षेत्र विंदु विश्व का केंद्र है और यह हमारे भीतर भी एक समान ही वर्तमान है। दिक् तत्व एवं काल तत्व स्वयं एक दूसरे में अनुस्यूत हैं।

सन् ७८४ में किसी समय तत्कालीन जापान सम्राट् क्वामू ने अपनी राजधानी नारा से हटा कर अन्यत्र स्थापित की जो स्थान क्वोटो नाम से प्रसिद्ध हुआ। पता चलता है कि उस समय नारा के बौद्ध संप्रदायों में पारस्परिक मतभेद की मात्रा बढ़ गयी थी जिसे वे दूर भी कर देना चाहते थे। उनके इस उद्देश्य की सिद्धि में दो जापानी बौद्ध विद्वानों ने अपने हाथ बँटाये और इन्होंने दो तदनुकूल संप्रदायों की भी स्थापना कर दी। सायचो अथवा डेंग्यो डायशी ने तेंदई संप्रदाय का प्रवर्तन किया और कुकई अथवा कोवो डायशी ने शिंगोन संप्रदाय चलाया। इन दोनों प्रचारकों के प्रयत्नों द्वारा जापानी बौद्ध धर्म में बहुत कुछ एकसूत्रता आ गयी और उसका सम्बंध राज्य के साथ भी दृढ़ हो गया। डेंग्यो डायशी का तेंदई संप्रदाय वस्तुतः चीनी तियेंताई का ही जापानी रूप है और उसकी चर्चा चीन देश के सम्बंध में इसके पहले भी की जा चुकी है। डेंग्यो ने नारा के संप्रदायों से सम्बंध-विच्छेद करके क्वोटो के निकट वर्तमान किसी एक पहाड़ी पर अपना मठ बनाया और वहाँ रहकर उसने 'सद्धर्मपुंडरीक' में निहित सिद्धांतों पर बहुत दिनों तक मनन किया। जापान के सम्राट् को जब उसके गंभीर अध्ययन का पता चला तो उन्होंने उसे विशेष अनुभव प्राप्त करने के लिए चीन में भेजा जहाँ के तियेंताई पर्वत पर उसने अपना निवास-स्थान बनाया। चीन से फिर लौटने पर ही उसने अपने तेंदई संप्रदाय की नींव डाली जिसमें उसने विभिन्न बातों का समन्वय भी कर दिया।

कोवो डायशी डेंग्यो का समकालीन था, किन्तु अवस्था में उससे छोटा था। वह एक प्रतिभाशाली पुरुष था और उसने अपनी युवावस्था में ही कन्फ्यूशियन धर्म, ताओ धर्म एवं बौद्ध धर्म का एक

तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। डेंग्यो की चीन-यात्रा से प्रभावित होकर इसने स्वयं भी उसका अनुकरण किया और बहुत दिनों तक वहाँ की धार्मिक स्थिति का अध्ययन करता रहा। जापान लौट कर उसने कोया पर्वत को अपना प्रधान केंद्र बनाया और तत्कालीन राजनीतिक प्रभावों से अपने को पृथक् रखे रहा। इसने अपने शिंगोन संप्रदाय के अंतर्गत उन सभी बातों का समावेश कर लिया जो भारत के तंत्रयान से सम्बंध रखती थीं। चीन देशीय बौद्ध धर्म की चर्चा करते समय पहले कहा जा चुका है कि किस प्रकार वहाँ पर वज्रबोधि एवं अमोघवज्र ने उसका प्रचार किया था। कोबो ने भी 'महा वैरोचन सूत्र' एवं 'वज्र शेखरसूत्र' का गंभीर अध्ययन करके उसके आधार पर अपना शिगोन संप्रदाय चलाया। चीन में तंत्रयान का प्रभाव उतना गहरा नहीं पड़ा, जितना वह जापान में लक्षित हुआ और वह आज भी प्रायः उसी प्रकार विद्यमान है। तेंदई और शिंगोन दोनों वहाँ एक दूसरे के पूरक रूप में काम करने वाले संप्रदाय सिद्ध हुए। दोनों ने बौद्ध धर्म को सर्वसाधारण तक पहुँचाया। तेंदई ने राजकीय सम्बंधों के कारण स्थानीय राजनीतिक विवादों में भी कुछ भाग लिया, किन्तु उसने इसके साथ ही उसमें धार्मिकता भी ला दी। शिंगोन संप्रदाय वस्तुतः चीनी 'चेन येनत्सुंग' का ही एक पूर्वी रूप था और इसका अपने सुधरे रूप में एक बार फिर चीन देश में प्रचार हुआ।

चीन देश में जिस प्रकार 'चिंगतु' अर्थात् 'पवित्रधाम' का संप्रदाय स्थापित हुआ था उसी प्रकार जापान में 'जोदो' संप्रदाय चला। इसका मूल आधार भारतीय महायान की इस धारणा पर आश्रित है कि यदि बुद्ध के नाम का जप किया जाय तो हमें 'सुखावती' धाम उपलब्ध हो जाय। सुखावती का धाम वह काल्पनिक लोक है, जहाँ सभी प्रकार के सौख्य की प्राप्ति आप से आप हो जाती है। यह जप-साधना की शिक्षा केवल उन व्यक्तियों को ही देना चाहता है जो उक्त

कल्पना में दृढ़ विश्वास रखते हों। इसी कारण, इसका प्रचार भोले-भाले लोगों में ही संभव है। इस संप्रदाय के लिए किन्हीं धर्मसूत्रों के गंभीर अध्ययन अथवा मनन की आवश्यकता नहीं है। चीन का चिंगतु संप्रदाय ईसा की चौथी शताब्दी में ही स्थापित हुआ था, किन्तु जापान में इसका अधिक प्रचार कूय शोनिन द्वारा उसकी दसवीं शताब्दी में हुआ। इस जोदो संप्रदाय को पूर्णतः सुव्यवस्थित रूप देने वाले होनेन शोनिन (सन् ११३३-१२१२) थे जिन्होंने इसकी स्पष्ट व्याख्या के लिए जापानी एवं चीनी में भी ग्रन्थ लिखे। उनका कहना था कि प्रत्येक साधक के लिए अमिताभ (अमिद) में अटूट श्रद्धा का रखना और उसके प्रति आत्म-समर्पण का भाव अनिवार्य है। इसके लिए किसी प्रकार के दार्शनिक चिंतन अथवा पूजन-विधान की कोई आवश्यकता नहीं। जोदो संप्रदाय के अनुयायी अपने को अनेक पातकों से युक्त मान कर अमिद की शरण में जाते हैं और उनके नाम-स्मरण द्वारा उनसे मुक्त हो जाने में विश्वास रखते हैं। इस मत की कई बातें भारतीय वैष्णव धर्म की भक्ति-साधना वाले सिद्धांतों से मिलती-जुलती हैं। सुखावती विषयक धारणा में भी हमें 'बैकुंठ', 'साकेत' अथवा 'गोलोक' जैसे स्वर्गीय धामों की कल्पना का सादृश्य दीख पड़ता है और उसे यहाँ अत्यंत आकर्षक रूप भी दिया गया है।

परंतु जिस प्रकार उक्त जोदो संप्रदाय के लिए श्रद्धालुओं की एकांतनिष्ठा अपेक्षित है, उसी प्रकार ज़ेन संप्रदाय आत्म-निर्भरता का समर्थक है। 'ज़ेन' शब्द जापानी है और यह क्रमशः चीनी 'चान' एवं संस्कृत के 'ध्यान' शब्दों का रूपांतर है। चीन के चान संप्रदाय की चर्चा इसके पहले की जा चुकी है और कहा जा चुका है कि किस प्रकार उसमें ध्यान-योग को महत्व दिया जाता है। जोदो संप्रदाय वालों को यदि, अपनी असमर्थता के कारण, दार्शनिक चिंतन अथवा अध्ययन की आवश्यकता नहीं पड़ती, वहाँ ज़ेन वाले उसे अनावश्यक समझ कर छोड़ देते हैं। ज़ेन जहाँ जिरिकी (निजी प्रयत्न) को सब

कुछ मानता है वहाँ जोदो मत तारिकी (परा प्रयत्न) पर निर्भर हो जाने को ही पूर्ण महत्व प्रदान करता है। चीन देश में चान संप्रदाय के रूप में लगभग ५०० वर्षों तक विकसित हो चुकने पर यह वहाँ से जापान में पहुँचा। इसका अंतिम उद्देश्य बुद्धि से सहायता न लेकर केवल सहजावबोध द्वारा सत्य का अनुभव कर लेना है। बुद्धि के द्वारा किसी वस्तु के विषय में ज्ञान अवश्य हो जा सकता है, किन्तु इससे उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो पाती न, इसी कारण, हमें उसका पूरा बोध हो पाता है। इसके लिए पहले प्रत्येक धारणा का पूर्ण परित्याग हो जाना चाहिए। हमारा चित्त इतना शुद्ध एवं निर्मल हो जाना चाहिए जिससे अभीष्ट पदार्थ पूर्ण रूप में ग्रहण किया जा सके। इस सम्बंध में एक उपयुक्त प्रसंग का उल्लेख कर देना कदाचित् अनुचित नहीं कहा जा सकता। दो भिक्षु कहीं से अपने मठ की ओर लौट रहे थे। मार्ग में एक नाला मिला जिसके जल में अपने कपड़े भीगने के भय से कोई सुंदरी बालिका उसके किनारे खड़ी थी। उनमें से एक भिक्षु ने उसे अपनी गोद में उठा लिया और उसे नाले के दूसरे पार कर दिया। किन्तु दूसरे को यह बात अनुचित जान पड़ी और वह इसे मीलों तक सोचता रहा। इसके प्रश्न करने पर प्रथम भिक्षु ने उत्तर दिया "क्यों? उस लड़की को तो मैंने वहीं छोड़ दिया, क्या तुम उसे अभी तक अपने साथ लिये जा रहे हो?"

ज़ेन संप्रदाय के आचार्यों ने अपनी सहजावबोध विषयक साधना के लिए कुछ युक्तियाँ भी बतलायी हैं। इनमें से दो ऐसी हैं जिनका उल्लेख बहुधा इसके विषय में लिखे गए कई ग्रन्थों में मिलता है। प्रथम युक्ति को जापानी भाषा में 'मोंदो' कहते हैं। इसमें संप्रदाय के गुरु एवं शिष्य आपस में, शीघ्रता के साथ, प्रश्नोत्तर करते हैं और इसी क्रम के द्वारा अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है। यदि कोई शिष्य, वास्तव में, सच्चा जिज्ञासु हो तो वह पहले से ही अपने विषय पर गंभीर

चिंतन कर चुका रहेगा। इस कारण जब कभी वह अपने गुरु से प्रश्न करेगा तो उसके प्रश्न में ही उस गुरु को उसकी वास्तविक दशा का परिचय मिल जायगा। वह फिर उससे इस प्रकार के प्रश्नोत्तर आरंभ कर देगा जिससे शिष्य को अभीष्ट तत्व का आप बोध हो जाय। एक दूसरी युक्ति 'कोआन' नाम की है जो, कदाचित् उस पहली युक्ति का ही एक संक्षिप्त रूप है और उसकी व्याख्या करना अत्यंत कठिन।[1] ज़ेन संप्रदाय के साधकों का तो यहाँ तक कहना है कि जो बात गहरे आत्म-चिंतन द्वारा संभव नहीं वह किसी साधारण हास्य, पुकार, कंपन अथवा आघात मात्र से भी जानी जा सकती है। किसी विकट प्रश्न के उत्तर में भी 'कोआन' की युक्ति वाले केवल 'मू' शब्द के उच्चारण मात्र से काम ले लेते हैं जिसका अर्थ 'नहीं' से अधिक नहीं। ज़ेन की युक्तियाँ उस बारूद का सा काम करती है जो सामने पड़े घने पर्दे में सहसा अंतराल बना देता है। हमें उस पार की भी सूझ जाती है उनका काम विद्युत् के समान अचानक एवं तत्क्षण प्रभावित कर देना है। युक्तियों का रूप संभवतः वैसा ही है जैसा संतों द्वारा बतलाये गए सद्गुरु के 'सबदों' का हुआ करता है और जिसकी ओर कबीर साहब आदि सभी की रचनाओं में संकेत भी किया गया है।

जापान के उक्त जोदो अथवा जोदोशिन और ज़ेन दो ऐसे संप्रदाय हैं जिनमें उनके बौद्ध धर्म की शाखा होने पर भी कतिपय अपनी विशेषताएँ है। उनका उस देश में बहुत अधिक प्रचार है और इसी कारण उन्हें बहुत महत्व भी दिया जाता है। किन्तु इन दोनों से भी अधिक विशेषताओं वाला वहाँ एक तीसरा मत प्रचलित है जिसे, उसके प्रवर्तक के नाम पर, निचिरेन संप्रदाय की संज्ञा दी जाती है। यह संप्रदाय एक ऐसे समय में स्थापित हुआ था, जब

---

१ क्रिसमस हम्फ्रीज़ : बुद्धिज्म, पृ० १८३

जापान की क्योटो सरकार से सम्बद्ध व्यक्तियों को पारस्परिक कलह के कारण किंचित् भी अवकाश नहीं मिलता था और जिस समय उनके ऐसे संघर्षमय जीवन में बौद्ध मठों के भिक्खु भी उनके साथ सहयोग करने लग गये थे अधिकाधिक प्रपंच ग्रस्त बनते जा रहे थे। निचिरेन (सन् १२२२-८२ ईसवी) एक साधारण मलाह का पुत्र था, किन्तु कुशाग्र बुद्धि वाला भी था। उसने परिस्थिति को भलीभाँति पहचाना और सारे प्रचलित बौद्ध संप्रदायों के सिद्धांतों का सम्यक् रूप से अध्ययन करके उसने तत्कालीन स्थिति का सुधार करने के उद्देश्य से एक नवीन मार्ग निकाला। उसमें विचित्र धार्मिक उत्साह भरा था और सभी संप्रदायों की आलोचना करने पर तुला था। इसलिए कर्मचारियों ने उसे दंडित करना चाहा, किन्तु प्रत्येक बार वह किसी न किसी प्रकार अपने को बचाता चला गया जिससे उसमें चमत्कार का आरोप होने लगा। उसने अपने उपदेशों का आधार 'सद्धर्मपुंडरीक' को बनाया और प्रचलित 'पवित्र धाम' परक सिद्धांतों के विरुद्ध इहलोक की ही महत्ता का प्रतिपादन किया। निचिरेन संप्रदाय के अनुसार ऐहिक कार्यों के ही द्वारा हम आत्यंतिक सुख के भी अधिकारी बन सकते हैं। हमें किसी काल्पनिक स्वर्गभूमि के अस्तित्व में विश्वास कर किसी प्रकार की साधना करने की कोई आवश्यकता नहीं। हमें स्वार्थत्याग, आत्मोत्सर्ग, देशभक्ति, जैसे इहलौकिक उदात्त भावों के साथ कार्य में निरत रहना चाहिए जिससे प्रत्यक्ष कल्याण की संभावना है। इस संप्रदाय की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि इसका मूलस्रोत चीन अथवा कोरिया जैसे किन्हीं अन्य देशों से सम्बद्ध नहीं था।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश, सर्वप्रथम, उस समय हुआ था जब ईसा की पाँचवीं शताब्दी में वहाँ भारत से कुछ ऐसी पुस्तकें पहुँची थीं। किन्तु इस बात का उन दिनों वैसा प्रभाव नहीं पड़ा और, वास्तव में, उनकी उपेक्षा कर दी गयी। इस देश में बौद्ध धर्म

की जड़ जमाने का श्रेय, इसी कारण, यहाँ के राजा सोंगचिन् गंपो को दिया जाता है जिनका जन्म सन् ५५७ में हुआ था। इस प्रतापी नरेश ने अपनी विजय के साथ-साथ चीन एवं नेपाल, दोनों देशों की ओर से दो राजकुमारियों का भी पाणि-ग्रहण किया। उस समय तक नेपाल एवं चीन में बौद्ध धर्म भलीभाँति फैल चुका था और उसका प्रभाव वहाँ के राज-घरानों पर भी कम नहीं था। फलतः दोनों रानियों ने राजा को प्रभावित करके उन्हें बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और तदुपरांत, वे इसके प्रचार-कार्य में भी कटिबद्ध हो गए। किन्तु सोंगचिन् गंपो ने जिस बौद्ध धर्म को अपनाया, वह वस्तुतः तांत्रिक बौद्ध धर्म था जिसमें योग-साधना एवं शैवतंत्र का पूर्ण संमिश्रण था। इसे बौद्ध धर्म कहने का प्रमुख कारण यह था कि इसमें असंग एवं बसुबंधु द्वारा प्रचारित योगाचार को विशेष महत्व दिया गया था। इन तीनों के समन्वय द्वारा इसने एक विचित्र रूप धारण कर लिया और तिब्बत के, उस समय प्रचलित, बोन धर्म ने इसे और भी विकृत कर दिया। यह बोन धर्म उस देश में तंत्र, मंत्र, टोना, जादू आदि का भी समर्थन करता था जिनका बौद्ध धर्म में प्रवेश होते अधिक बिलंब नहीं लगा और इसको क्रमशः वह मार्ग स्वीकार करना पड़ गया जिसे आजतक लामा धर्म कहा जाता है।

तिब्बत के देश, नेपाल, भूटान, सिक्किम, लद्दाख और मंगोलिया के कुछ प्रदेशों तक में तीन प्रकार के बौद्ध दर्शन प्रचलित हैं। इनमें से एक तो नागार्जुन के प्रसिद्ध माध्यमिक शास्त्र पर आश्रित है और इसे तिब्बत में 'उमापा' का नाम दिया गया है और दूसरे को 'महामुद्रा' कहते है। इस महामुद्रा को तिब्बत में 'फ्याग चेन' भी कहा जाता है। इसी प्रकार, तीसरे दर्शन 'आदियोग' को वहाँ 'जोग् सचेन' का नाम दिया गया है। 'उमापा' के अनुयायियों को 'गेलुग्पा' कहा जाता है और वे पीली टोपी धारण करते हैं। इसे मान्यता देने वाले संप्रदाय का प्रवंतक सोंगखापा (सन् १३५८-१४१७) थे और

यही उत्तरी तिब्बत के दलाईलामा का भी अपना धर्म है। 'महामुद्रा' के अनुयायियों को 'कार्ग्युत्पा' कहते हैं। इनका सर्वप्रमुख आचार्य मिलारेपा समझा जाता है। इसी प्रकार आदियोग वाले 'निगंमापा' कहलाते हैं और ये लाल टोपी धारण किया करते हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ आचार्य का नाम पद्मसंभव है जो तिब्बत में नालंद से आये थे। इन्हें तिब्बत के राजा ने अपने यहाँ स्वयं निमंत्रित किया था। इन्होंने उसी के अनुरोध से वहाँ उक्त धर्म की स्थापना सन् ७४६ में की थी। इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथे मत अर्थात् 'सक्यपा' का भी नाम लिया जाता है। किन्तु यह वस्तुत: आदियोग वालों का ही एक उप-संप्रदाय है। उक्त तीनों वा चारों का न्यूनाधिक सम्बंध बौद्ध धर्म के साथ जुड़ा हुआ है और वे आजकल भी उसकी शाखाओं के रूप में प्रचलित हैं। परंतु बोन धर्म जो इस देश में इन सभी के पहले से प्रचलित है बौद्ध धर्म का वास्तविक अंग नहीं माना जा सकता। इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनका प्रभाव तिब्बतीय बौद्ध धर्म पर भी पड़ गया है। बोन धर्म के अनुयायी काली टोपी धारण करते हैं।[1]

पद्मसंभव का आदियोग प्राचीन भारतीय साधनाओं का पूर्ण समर्थक है, जहाँ उमापा के अनुयायी उनमें सुधारों के भी पक्षपाती हैं। परंतु महामुद्रा वाले इन दोनों के बीच का मार्ग अवलंबन करते हैं और अपनी कुछ विशेषताएँ भी रखते हैं। पद्मसंभव ने जिस समय अपने आदियोग का प्रचार आरंभ किया उस समय बोन धर्म वालों की ओर से उनका बहुत विरोध हुआ। तिब्बत में बौद्ध धर्म अपने स्थायी रूप में उस समय से प्रचलित हुआ, जब वहाँ भारत से एक अन्य बौद्ध पंडित भी पहुँच गये जिनका नाम अतिश था। इन्होंने ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में वहाँ पहुँच कर लामाओं

[1] डब्ल्यू० वाई० इवांस वेंत्स : तिब्बत्स ग्रेट योगी मिलारेपा, पृ० ४६

के गेलुग्पा वाले मत की स्थापना कर दी जिसका वहाँ पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उस काल के दो अन्य महापुरुषों के भी कारण वहाँ बौद्ध धर्म को पूरा सहयोग मिला जिनमें से मिलारेपा का नाम पहले से ही आ चुका है। दूसरे का नाम 'मारपा' था जो मिलारेपा के गुरु थे और जिनकी प्रेरणा द्वारा ही कार्ग्युत्पा लोगों के संप्रदाय की स्थापना हुई थी। इनके शिष्य मिलारेपा एक अत्यंत प्रभावशाली धर्म प्रचारक हुए। उन्होंने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से वहाँ के धार्मिक समाज में नवीन स्फूर्ति ला दी। ये सन् १०३८ ईसवी में उत्पन्न हुए थे और सदा एक मात्र रूई का कपड़ा पहना करते थे। ये अपनी योग-सिद्धियों के लिए भी बहुत प्रसिद्ध थे। इनके द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय का मूल सम्बंध भारतीय कुसूलिया की योग-साधना से था जिसके एक प्रमुख आचार्य सिद्ध तेलोपा थे। सिद्ध तेलोपा, दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आसपास, वर्तमान थे और प्रसिद्ध है कि उन्हें स्वर्गीय बुद्ध वा वज्रधर से महामुद्रा दर्शन की शिक्षा मिली थी जिसे उन्होंने कार्ग्युत्पा लोगों के लिए आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। सिद्ध तेलोपा से यह मत सर्वप्रथम सिद्ध नारोपा को मिला था जिनसे यह फिर क्रमशः मारपा एवं मिलारेपा तक पहुँच गया[1] तेलोपा और नारोपा ८४ सिद्धों में भी गिने जाते हैं।

अतिश द्वारा प्रचारित मत को विकसित रूप देने का श्रेय सोंग-का-पा को दिया जाता है जिनका समय सन् १३५८ से १४१९ तक है और जिनके लिए प्रसिद्ध है कि वे पश्चिमोत्तर चीन के अमदो प्रांत के किसी 'प्याज की भूमि' से तिब्बत की ओर आये थे। उन्होंने अतिश के अनुयायियों को फिर से संगठित करके उन्हें थेरवाद के विनय की भी शिक्षा दी और उन्हें पीली टोपी का चिह्न प्रदान किया। लामाओं की परंपरा में सोंग-का-पा बड़ी उच्च श्रेणी के समझे जाते

---

१. डब्ल्यू० वाई० इवांस वेंत्स: तिब्बत्स ग्रेट योगी मिलारेपा, पृ० ८

हैं और पीले टोपी वाले उन्हें स्वयं गौतम बुद्ध के अनंतर दूसरा स्थान देते हैं। इस महापुरुष ने तिब्बत में बौद्ध धर्म की बहुत बड़ी धाक जमा दी। इनके द्वारा प्रचलित एवं प्रचारित संप्रदाय ने वहाँ अत्यंत लोकप्रिय रूप ले लिया। बौद्ध धर्म मंगोल देश में, ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी में, पहुँचा और कुबलये खाँ के धर्मगुरु ड्रोगोन ने वहाँ की प्रकृति-पूजा के विधानों में आवश्यक सुधारों का समावेश करके इसे बौद्ध धर्म के एक विशिष्ट संप्रदाय का रूप दे दिया। मंगोल सम्राटों की प्रेरणा द्वारा बहुत से बौद्ध धर्म सम्बंधी महत्व पूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद वहाँ की भाषा में किया गया और उनकी पोथियों को सुंदर कलात्मक ढंग से सजाया गया। मंगोल देश के निवासी कोकोनोर क्षेत्र एवं लासा नगर की तीर्थ-यात्रा करने के लिए बड़ी से बड़ी संख्या में आने लग गए। मंगोल देश में भी लामाओं की वही प्रतिष्ठा है जो तिब्बत में है और जिस प्रकार तिब्बत के लामा धर्म का केंद्र लासा है, उसी प्रकार मंगोल देश वाले का उर्गा है।

इस प्रकार तिब्बत में बौद्ध धर्म के, गेलुगपा, कार्ग्युत्पा, शाक्यपा, निंगमापा तथा बोनपा का उससे प्रभावित रूप में ही पाँच प्रमुख संप्रदाय हैं। प्रायः इनमें से किन्हीं की वाह्य साधनाओं में विशेष अंतर नहीं और उन पर तांत्रिक मत का भी स्पष्ट प्रभाव पड़ चुका है। किन्तु जहाँ तक भीतरी और योग-सम्बंधी साधनाओं का सम्बंध है, उनके विचार से इनमें विभिन्न स्तर कहे जा सकते हैं। तिब्बत प्रदेश वह विचित्र स्थल है जहाँ पर अन्य धर्मों के भी साधक, शांतिपूर्वक एकांत-साधना करने के उद्देश्य से जाते रहे। उसे, इसी कारण, कभी-कभी 'महात्माओं का देश' भी कहा गया है स्वयं तिब्बती लामाओं में भी बहुत से ऐसे सिद्ध हो चुके हैं जिनकी सफल साधनाओं तथा चमत्कारों की दंत-कथाएँ बन गई है। किन्तु, उसी प्रकार, इस देश में अनेक ऐसे तांत्रिक, इंद्रजाली, टोटका-विधायक और पाखंडी भी मिलेंगे जिनकी रहस्यपूर्ण प्रक्रियाओं का कोई अंत नहीं। बौद्ध धर्म

का महायानी रूप भी यहाँ पर इतना परिवर्तित हो गया है कि इसे 'लामा' धर्म की एक विशिष्ट संज्ञा ही दी जाने लगी है। इसके जो जो रूप लद्दाख, मंगोल देश, भूटान, सिक्किम एवं नेपाल में पाये जाते हैं, उनमें कोई मौलिक अंतर नहीं है। केवल नेपाल के सम्बंध में कहा जा सकता है कि वहाँ पर इसे शैव संप्रदाय द्वारा बहुत अधिक प्रभावित हो जाना पड़ा है। इसके सिवाय, लगभग सौ वर्षों के इधर वहाँ पर हीनयानी थेरवाद का भी कुछ प्रचार हुआ है, यद्यपि उसका प्रभाव अभी तक उतना स्पष्ट नहीं दीख पड़ता। तिब्बत के लामा भी अपने पदाधिकारों की दृष्टि से या तो दलाई लामा होते हैं अथवा वे ताशी लामा कहलाते है। इनमें से दलाई लामा वस्तुतः ईश्वरीय राजा के पद पर आसीन समझे जाते हैं। वे सत्रहवीं शताब्दी में निर्मित प्रसिद्ध 'पोताल' मंदिर में निवास करते हैं। ताशी लामा का कोई राजनीतिक महत्व नहीं है, किन्तु, स्वयं अमिताभ के अवतार रूप में वर्तमान समझे जाने के कारण उनके प्रति धर्म-प्राण बौद्धों की श्रद्धा किसी प्रकार कम नहीं रहा करती।

तिब्बत देश के बौद्ध पंडितों में अनेक अद्वितीय विद्वत्ता वाले महापुरुष हुए हैं और उन्होंने वहाँ इस धर्म का प्रचार बड़ी लगन से किया है। इनमें से रिन्-छेन्-ग्रुब, चोङ् खप एवं लामा तारानाथ के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। रिन्-छेन्-ग्रुव सन् १२९० से १३६४ ईसवी तक वर्तमान थे और उन्होंने ऐसे पचासों ग्रन्थों की रचना की जिनके द्वारा बौद्ध धर्म के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसके सिवाय उन्होंने दो ऐसे ग्रन्थ-संग्रहालयों की भी स्थापना की जिनमें इस विषय की अमूल्य पुस्तकें आज तक सुरक्षित चली आ रही हैं। इन संग्रहों में से एक का नाम 'स्कग्युर' वा कंजुर है जिसमें महात्मा गौतम बुद्ध के वचनों अर्थात् मूल उपदेशों का संग्रह किया गया है। इसी प्रकार, इसके 'स्तनग्युर' वा तंजुर नामक दूसरे संग्रह में ऐसे ग्रन्थ संगृहीत है जो दर्शन, काव्य, ज्योतिष, एवं

तंत्र-मंत्र जैसे विषयों से भी सम्बंध रखते हैं। चोङ्खप नामक बौद्ध भिक्षु ने, इसी प्रकार, सर्वत्र भ्रमण कर तथा बौद्धों के लिए महाविहार एवं महाविद्यालयादि की स्थापना कर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ये सन् १३५७ से लेकर सन् १४१६ ईसवी तक वर्तमान थे। उन्होंने न केवल दार्शनिक सिद्धांतों का प्रचार किया, अपितु बौद्धों का पूरा संगठन भी किया। उन्होंने अपनी परंपरा में केवल ऐसे ही उत्तराधिकारियों के चुने जाने की व्यवस्था कर दी जो, वास्तव में योग्य हो। लामा तारानाथ का जन्म सन् १३७५ में हुआ था और वे जितने गंभीर विद्वान नहीं थे, उतने बहुश्रुत थे। इन्होंने बौद्ध धर्म के इतिहास पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इनकी ऐतिहासिक रचनाओं में दंत-कथाओं एवं अनुश्रुतियों से ही अधिक सहायता ली गयी है और उनमें चमत्कारों की भी भरमार है। परंतु, उनके समय में यहाँ इसके अधिक कर पाने की आशा भी नहीं की जा सकती थी।

एक अनुश्रुति के अनुसार खोतन राज्य की स्थापना, सर्वप्रथम सम्राट् अशोक के वहाँ आगमन के उपलक्ष में हुई थी। उसी अवसर पर उन्हें किसी एक पुत्र की प्राप्ति भी हुई जिसका नाम 'कुस्तन' रखा गया था और इन शब्द का अर्थ 'पृथ्वी का स्तन' भी बतलाया जाता है। किन्तु इन बातों के लिए कोई ऐतिहासिक आधार भी उपलब्ध नहीं है और एक अन्य स्रोत के अनुसार अनुमान किया जाता है कि इसकी स्थापना, किसी बुलर झील (काश्मीर) के निकटवर्त्ती क्षेत्र के नाग महायुद्ध द्वारा हुई होगी। नाग महायुद्ध का नाम हुलूर अथवा हूलर भी था और उसे, समाट् अशोक के पहले ही, किसी बौद्ध धर्म प्रचारक के प्रभाव में आ जाना पड़ा था। इस काश्मीरी बौद्ध हूलर के नाम पर खोतन में एक सांप्रदायिक वर्ग के भी प्रतिष्ठित हो जाने का पता चलता है जो उसके समय से पीछे की भी घटना हो सकती है। खोतन की कतिपय किंवदंतियों के अनुसार वहाँ बौद्ध धर्म का प्रवेश, ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी के पहले, नहीं

हुआ होगा। फ़ाहियान, जो इस देश की ओर ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के अंत में आया था, बतलाता है कि वहाँ लगभग ४००० हीनयानी बौद्ध वर्तमान थे और वे लोग भारतीय भाषा का भी व्यवहार करते थे। बौद्ध धर्म का प्रचार, सर्वप्रथम, वहाँ किसी वैरोचन नामक श्रमण द्वारा, आरंभ किया गया था जिसने वहाँ कई मठ भी स्थापित कराये थे। फ़ाहियान के समय तक वहाँ बहुत से महायानी बौद्ध भी पाये जाने लगे होंगे। 'गोशृंग महात्मा' के आधार पर कहा जाता है कि आठवीं वा नवीं शताब्दी तक "महायानियों की संख्या जहाँ किसी घोड़े के सारे शरीर के बालों जितनी थी, वहाँ अन्य सभी धर्मों के अनुयायी उस पशु के केवल कानों के ही बालों की संख्या में गिने जा सकते थे।" गोशृंग-महात्म्य वहाँ के एक तीर्थ-स्थान के विषय में लिखा गया था और इसे 'गोशृङ्ग-व्याकरण' का नाम दिया गया था जिसकी भाषा संस्कृत थी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ खोतनी भाषा में भी थे।[१]

भारत के पश्चिम वाले देशों में भी बौद्ध धर्म का प्रवेश लगभग उसी समय हुआ होगा जब वह खोतन में फैलने लगा था। सम्राट् अशोक ने कुछ दूर तक वहाँ अपने शिला-लेखों की व्यवस्था की थी और अन्यत्र बहुत से धर्म-प्रचारकों को भी भेजा था। फलतः अफ़ग़ानिस्तान तथा उसके उत्तर के कुछ भूखंडों में हमें अभी आज तक बहुत से बौद्ध अवशेष मिलते हैं। इन प्रदेशों में अनेक ऐसे स्थान हैं जिनके नाम तक हमें उन पर पुराने बौद्ध प्रभाव का स्मरण दिलाते हैं। उनमें केवल न्यूनाधिक परिवर्तन मात्र हो गया है। इसके सिवाय वहाँ की विविध कलाएँ भी, जिनका प्रादुर्भाव, उन देशों पर बौद्ध प्रभाव

---

१ एफ० डब्ल्यू० टामस : इंडियनिज़्म-ऐंड इट्स एक्सपैंशन, पृ० ५८-६६

के पड़ने पर हुआ था, इस बात की साक्षी कही जा सकती है।[1] इसलाम धर्म का उधर प्रचार हो जाने पर जिस समय उसके सूफ़ी संप्रदाय का भी वहाँ प्रवेश हुआ, उस समय तक बौद्ध धर्म वहाँ लुप्त नहीं हो गया था। बहुत से इसके अनुयायी दमन-चक्रों से अपने प्राण बचा कर कहीं न कहीं लुके-छिपे रहा करते थे। ऐसा ही एक परिवार उन बरमकों का था जिनका प्रवेश, किसी न किसी प्रकार, खलीफ़ा हारूँ रशीद के दर्बार में हो गया था। 'बरमक' शब्द अरबी में भारतीय 'परमक' के स्थान पर व्यवहृत होता है। कहा जाता है कि यह प्रयोग बौद्ध विहारों के महापुरुष के लिए हुआ करता था।[2] बरमकों के कारण, उस दर्बार में, धर्म, संस्कृति एवं साहित्य के प्रति विशेष आकर्षण उत्पन्न हो गया था। बौद्ध धर्म का प्रभाव स्वयं सूफ़ी संप्रदाय के सिद्धांतों एवं साधनाओं पर भी कम नहीं पड़ा और इस बात को इसके कई उन उप-संप्रदायों की विशेषताओं द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है जो पुराने बौद्ध क्षेत्रों में आकर स्थापित किये गए थे। बौद्धों के ध्यान योग, उनकी गुरु-शिष्य परंपरा, उनकी मठ-व्यवस्था, आचार्यों के संयत जीवन प्रचार-पद्धति एवं अन्य कई ऐसी छोटी-मोटी बातों के लिए भी सूफ़ी लोग उनके ऋणी कहे जा सकते हैं।

प्राचीन समय में भारत से सुदूर पश्चिम की ओर सीरिया, मिश्र एवं यूनान तथा सुदूर दक्षिण-पूर्व की ओर सुमात्रा, जावा आदि द्वीपों तक बौद्ध धर्म के किसी न किसी प्रकार पहुँचने एवं प्रचलित होने का पता चलता

---

१ डॉ० स्टेन का कहना है कि फ़ारस के सीस्तान प्रांत के हेलमंद नामक कच्छ प्रदेशों में उन्हें एक ऐसा बौद्ध मठ मिला था जिसमें सुरक्षित चित्रों से यूनानी एवं बौद्ध कलाओं के उस मिश्रित रूप का पता चलता था जो भारत के पश्चिमोत्तर छोर से लेकर मध्य एशिया तथा सुदूर पुर्व को एक सूत्र में बाँध देता है। हिंदुइज़्म ऐंड बुद्धिज़्म, पृ० १६६

२ जे० ए० सुभान : सूफ़ीज़्म इट्स सेंट्स ऐंड श्राइंस, पृ० १३३

है, किन्तु इनके विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं। फ़ाहियान को सन् ४१८ ईसवी में जावा द्वीप के अंतर्गत, एक भी बौद्ध नहीं मिला था, किन्तु पीछे के उल्लेखों में वहाँ भारतीय महायान का होना सिद्ध है। सन् ७७८ ईसवी के कलसन वाले नागरी शिला-लेख में महायान संप्रदाय के एक मठ एवं तारा के एक मंदिर की भी चर्चा पायी जाती है। वहाँ का सर्वप्रथम स्मारक चिह्न जो प्रंबनन में वर्तमान है वह भी उक्त तारा के ही लिए निर्मित है। जावा द्वीप में महायान सम्बंधी प्रचार-साहित्य की भी कमी नहीं, वहाँ वाले इस संप्रदाय की एक यह विशेषता है कि ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक यह वहाँ के प्रचलित हिंदूधर्म के साथ बहुत कुछ हिल-मिल जाता है। वहाँ पर पर बुद्ध एवं शिव लगभग एक से बन जाते हैं और उनके एक विचित्र संमिलित रूप का विकास होने लगता है। ईत्सिंग (सन् ६८८-९५) के अनुसार उधर के अन्य कई द्वीपों में 'मूल सर्वास्तिवाद' का प्रचार अधिक था और "मलयु के अतिरिक्त अन्यत्र" हीनयान ही प्रचलित था।[1] जान पड़ता है कि पीछे के मुसलिम प्रभाव ने इन देशों के बौद्ध अवशेषों को नष्ट हो जाने में पूरी सहायता की। पश्चिम के इसलामी देशों में बौद्ध धर्म एवं संस्कृति को निर्मूल करने में कुछ अधिक सजगता प्रदर्शित की गयी और बौद्ध मूर्तियों एवं विहारों का ध्वंस कर देना कर्तव्य-सा बन गया। गौतम बुद्ध की मूर्तियों के ही नाम पर 'बुद्ध' शब्द से 'बुत' का निर्माण हो गया जो पीछे सभी प्रकार की प्रतिमाओं के लिए प्रयोग में आने लगा। अनेक मुसलिम सुलतान अपनी 'बुत-शिकनी' अथवा मूर्ति-ध्वंस के कारण अपने सहधर्मियों में विख्यात हो गये। बौद्ध धर्म को अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने में कई अवसरों पर ईसाई धर्म का भी सामना करना पड़ा, किन्तु इससे उसे अधिक क्षति नहीं पहुँची। ईसाई देशों में वह केवल, इसी कारण, न प्रचलित हो सका कि उसे वहाँ चीन, तिब्बत आदि देशों की भाँति

---

१. सर चार्ल्स इलियट : हिंदुइज्म ऐंड बुद्धिज्म, पृ० १७६-७

अच्छे प्रचारक नहीं मिल सके। भारतीय बौद्ध शासकों अथवा पंडितों का उधर संपर्क भी नहीं रहा, न बौद्ध यात्रियों का आना-जाना ही उस प्रकार हो सका। आधुनिक युग में जब आवागमन की विशेष सुविधाएँ हो गई हैं और प्रचार के साधन भी बढ़ गये हैं स्थिति बहुत कुछ सुधर गयी है। एशिया के दक्षिणी बौद्ध देशों से जहाँ इस धर्म के प्रचारक पश्चिम की ओर जाने लगे हैं, वहाँ जापान तथा चीन से यह प्रशांत सागर के पार भी बढ़ जाना चाहता है।

एशिया के देशों में से कदाचित्, चीन ही ऐसा है जहाँ बौद्ध धर्म केवल जीवित मात्र है, प्रगतिशील नहीं है; अन्यथा अन्य सब कहीं इसमें नव विकास के लक्षण दीख पड़ते हैं और वहाँ के बौद्ध इसे नूतन वातावरण के अनुरूप सुव्यवस्थित करने में प्रयत्नशील हैं। चीन में इस समय कम्यूनिष्ट राज्य है जिसे धर्मेतर विषयों के ही प्रति अधिक रुचि है और वह, अपने किसी भी पूर्व परिचित धर्म की ओर से प्रायः उदासीन है। जापान में, चीन की अपेक्षा, बौद्ध धर्म अधिक ध्यान आकृष्ट करता है। वहाँ के निवासी इसके सामने अमेरिकी मिशनों तक की उपेक्षा कर रहे हैं। इंदोचीन को तथा कोरिया को भी अपने यहाँ के आपसी युद्धों से ही अवकाश नहीं है और इन देशों की धार्मिक स्थिति डावाँडोल कही जा सकती है। किन्तु श्याम के निवासियों में बौद्ध धर्म के प्रति विशेष निष्ठा दीख पड़ती है और वे अपने यहाँ से धर्म-प्रचारकों तक के भेजने का प्रबंध किया करते हैं। लंका द्वीप में ईसाई धर्म ने इधर बहुत प्रगति कर ली थी, किन्तु सिंहली जनता अपने इस पुराने धर्म के प्रति अब अधिक जागरूक हो उठी है। बर्मा में कम्यूनिष्ट आक्रमणों के होते रहने तथा विभिन्न प्रांतों अथवा जातियों के लड़ते-भिड़ते रहने से भी कुछ अव्यवस्था अवश्य आ गई है। फिर भी वहाँ की साधारण जनता लंका द्वीप वाले लोगों की ही भाँति बौद्ध धर्मी हैं और इस ओर किसी प्रत्यक्ष परिवर्तन की आशंका नहीं है। भारतवर्ष, इस धर्म की जन्मभूमि होता हुआ भी, लगभग

ग्यारहवीं शताब्दी से, इसका बहिष्कार कर चुका था। परंतु, प्रसिद्ध सिंहली बौद्ध विद्वान अनागरिक धर्मपाल जैसे एकांतनिष्ठ साधकों के प्रयत्नों द्वारा, इसे भी उसके पुनरुत्थान की चिंता हो गयी है। अनागरिक धर्मपाल की 'महाबोधि सोसाइटी' ने यहाँ पर बहुत कुछ काम किया है और उसने इसके पड़ोसी नेपाल राज्य तक में प्रचार-कार्य को आगे बढ़ाया है। इधर केवल तिब्बत और मंगोलिया ही ऐसे दो बौद्ध देश हैं जहाँ किसी विशेष परिवर्तन का स्पष्ट पता नहीं चलता। एशिया तथा इंदोनेशिया के मुसलिम राज्यों के अंतर्गत बौद्ध धर्म बहुत अधिक दब चुका है और सोवियत के अंग बने प्रदेशों में भी इसकी जागृति के वैसे लक्षण नहीं दीख पड़ते।

इस बात के लिए निश्चित प्रमाणों का अभाव है कि बौद्ध धर्म ने पाश्चात्य देशों में ठीक किस समय और किस प्रकार प्रवेश किया था। केवल इतना पता चलता है कि इसके धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में बहुत दिनों से होता आ रहा है। बुर्नो, हाग्सन, राकहिल, ओल्डनबर्ग, बील, माक्समूलर एवं राइस डेविड् आदि कतिपय ऐसे विद्वान् थे, जिन्होंने इसकी ओर विशेष ध्यान दिया। इनके सतत प्रयासों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक, यह धर्म उच्च वर्ग के लोगों के अध्ययन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण विषय बन गया। फिर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दिनों से इसके धार्मिक रूप को अपनाने की भी प्रवृत्ति जगने लगी। जैक्शन एवं पेन जैसे अंग्रेजों ने इसके लिए अपना प्रचार-कार्य आरंभ किया तथा जे० एफ० केचनी ने स्वयं 'भिक्खु शीलाचार' बनकर इसके प्रसार का आंदोलन चलाया। ऐसे लोगों ने, इस धर्म को सबके लिए परिचित बनाने के उद्देश्य से कई संस्थाएँ खोलीं, पुस्तकें लिखीं और पत्रादि का भी प्रकाशन किया और इनके इन प्रयत्नों में बाहर की बौद्ध सोसाइटियों तथा अन्य प्रकार की प्रचार-सभाओं का भी सहयोग प्राप्त होने लगा। इस प्रचार-कार्य में थियासोफिकल सोसाइटी का

भी कम हाथ नहीं रहा और उसकी प्रसिद्ध उन्नायिका मैडेम ब्लैवेड्स्की ने इसकी कुछ तिब्बतीय साधनाओं का स्वयं अभ्यास भी किया। उन देशों में फिर क्रमशः विपुल बौद्ध साहित्य की रचना होती चली गई और वहाँ के बहुत से लोगों ने बौद्ध धर्म का अपना पथ-प्रदर्शक भी बना लिया।

फ्रांस देश में प्रचलित होने वाले बौद्ध धर्म की एक यह विशेषता थी कि वहाँ पर यह केवल मध्यवर्गीय लोगों तक ही सीमित नहीं रहा। वहाँ के उच्चकोटि वाले अत्यंत प्रसिद्ध व्यक्तियों ने भी इसके प्रचार-कार्य में भाग लिया और उन्होंने इंदोचीन के थेरवाद के साथ अपना विशेष सम्बंध रखा। इसी प्रकार वहाँ के कतिपय विद्वानों ने तिब्बतीय बौद्ध धर्म के अध्ययन की ओर भी कम ध्यान नहीं दिया। जर्मनी में बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार प्रथम महायुद्ध के अनंतर ही हो सका और डाक्टर पाल डाहल्के ने वहाँ के बर्लिन नगर में एक बौद्ध विहार की भी स्थापना की। इसी प्रकार, संभवतः युद्धों की प्रतिक्रिया के ही रूप में, हालैंड, बेलजियम, फिनलैंड, स्वीडेन एवं स्विट्ज़रलैंड में भी बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ी संयुक्त राज्य (अमेरिका) में इसका प्रचार पहले, उस देश के पश्चिमी तट-वर्ती जापानियों के कारण आरंभ हुआ। फलतः यूरोपीय देशों के बौद्ध धर्म का रूप जहाँ अधिकतर हीनयानी रहा, वहाँ अमेरिका से वह विशेषतः महायानी वेश में दीख पड़ा। वहाँ उसके उन अंगों का ही अधिक प्रचार हुआ जो महायान के जोदो एवं ज़ेन संप्रदायों के प्रमुख सिद्धांतों एवं साधनाओं पर आधारित हैं। पाश्चात्य देशों में प्रचलित होने वाले आधुनिक बौद्ध धर्म का रूप, वास्तव में, न तो विशुद्ध हीनयानी है, न वह केवल महायान पर ही आश्रित है। प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन तथा उनके आलोचनात्मक अनुशीलन के आधार पर उसके मौलिक सिद्धांतों पर गंभीर विचार किया जा रहा है। इसके परिणाम स्वरूप, कुछ ऐसे व्यापक नियम

निर्धारित किये जा रहे हैं जिनसे विश्व-कल्याण सर्वथा आधुनिक दृष्टि से भी, संभव जान पड़े। कुछ ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रेसिडेंट कर्नल अलकॉट ने, सन् १८९१ ईसवी में, ऐसे १४ नियम बनाये थे जो बौद्ध धर्म के प्रत्येक संप्रदाय अथवा उप-संप्रदाय को भी मान्य हो सकें और जिन्हें बहुत से बौद्ध देशों ने पसंद भी किया था। फिर सन् १९४५ ईसवी में क्रिसमस हम्फ्रीज़ ने, लंदन की 'बुद्धिष्ट सोसाइटी' के आग्रह पर, १२ ऐसे ही नियमा की एक पृथक् सूची तैयार की। हम्फ्रीज़ का तो यहाँ तक विश्वास है कि, इस प्रकार, भविष्य में एक ऐसे 'नवयान' का उदय होने जा रहा है जिसमें सभी विचार-स्रोतों का समन्वय हो जायगा।[1]

१ क्रिसमस हम्फ्रीज़ : बुद्धिज़्म, पृ० २३०-१